This is a work in progress.

Only 20% of the book has been written. Please, read and provide your suggestions / comments/ feedback. The email address is gyayak_jain@yahoo.co.in and /or fax at 443 568 1300

नय रहस्य

अभयकुमार जैन, देवलाली

आदरणीय महानुभव, दिनांक - 14 जून 2009

सादर जय जिनेन्द्र,

आशा है कि आप सानन्द एवं सकुशल होगे । स्वाध्याय नियमित चलता होगा ।

पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों में जिनागम के महत्त्वपूर्ण प्रकरण **नय** के बारे में अनेक बार चर्चा आई है। इस सम्बन्ध में आदरणीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा परम-भाव प्रकाशक नयचक्र में विशद विवेचन किया गया है ।

उक्त कृति में समागत अनेक मार्मिक बिन्दुओं का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए यह **नय रहस्य** नामक कृति लिखने का प्रयास किया जा रहा है । जिसका प्रारंभिक अंश आपके समक्ष समीक्षार्थ प्रस्तुत है ।

कृपया इसकी विषय वस्तु, भाषा तथा शैली में पाई जाने वाली त्रुटियों की ध्यान आकर्षित करने का कष्ट अवश्य करें । आपके विचार लिखने हेतु कुछ स्थान खाली छोड़ा गया है, कृपया उसका उपयोग अवश्य करें ।

भवदीय

अभयकुमार जैन, देवलाली

ॐ

नय रहस्य

विषय प्रवेश

नय-प्रमाण से जानकर सात तत्त्व का मर्म ।
रत्नत्रय निधि प्राप्त कर कटें त्रिविध दुष्कर्म ।।

इस विश्व को जगत्, लोक, दुनिया, सृष्टि आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है । किसी नय विशेषज्ञ बुद्धिमान व्यक्ति ने इसे दुनिया कहना प्रारम्भ किया होगा; क्योंकि इस जगत् की गाडी मुख्यत: दो नयों की पटरी पर ही चलती है । सम्पूर्ण जिनागम तो नयों की शैली में वस्तुस्वरूप का एवं मोक्षमार्ग का निरूपण करता ही है, जन-सामान्य भी लौकिक प्रसंगों में दो नयों का प्रयोग किये बिना नहीं रह सकता । क्या एक बालक अपनी माता में विद्यमान मातृधर्म को मुख्य किये बिना उसे माँ कह सकता है ? नहीं । क्या हम और आप किसी चायवाले को ए चाय ! या टैक्सीवाले को ए टैक्सी! कहकर नहीं बुलाते ? किसी अपेक्षा के बिना यह व्यवहार कैसे सम्भव है ? अत: इस जगत् को दुनिया कहने वाला व्यक्ति निश्चित ही नयों के मर्म का ज्ञाता रहा होगा ।

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि दुनिया में जैनियों के अलावा नय शब्द का प्रयोग तो कोई नहीं करता और जैनियों में भी कुछ विद्वानों को छोडकर कोई भी 'नय' शब्द का प्रयोग करता नहीं देखा जाता । क्या कोई बालक अपनी माँ से यह कहता है कि तू इस नय से मेरी माँ है ? यदि नहीं तो फिर आप यह कैसे कह सकते हैं कि नयों के बिना दुनिया का काम भी नहीं चलता ?

भाई ! इसीलिए तो यह पुस्तक लिखी जा रही है ; ताकि हम नयों का स्वरूप, उनकी उपयोगिता तथा भेद-प्रभेद आदि के बारे में आवश्यक विस्तार और गहराई से जान सकें । रही बात जन साधारण द्वारा नय शब्द का प्रयोग न करने की, तो मात्र शब्द प्रयोग में नय नहीं होता, नय तो भाव अर्थात् ज्ञान में होता है । वह बालक माँ की परिभाषा नहीं जानता, परन्तु माँ के वात्सल्य का अनुभव अवश्य करता है । इसीप्रकार वह भूख-प्यास क्रोध-प्रेम आदि शब्दों को नहीं जानता, परन्तु इन भावों का वेदन तो करता ही है ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि भावानुभूति भाषा की गुलाम नहीं होती । कैसी विडम्बना है कि भाषा ज्ञान से रहित शिशु माँ के वात्सल्य का जितना गहन अनुभव करता है, भाषा ज्ञान से समृद्ध युवा होने के बाद उसकी अनुभूति में माँ का वह स्थान नहीं रह पाता, जितना बचपन में था । पहले वह एक पल भी माँ को देखे बिना नहीं रह सकता था और अब माँ को छोडकर सात समुन्दर पार जाने के लिए भी तैयार है ।

यह तो रही लोक की बात, यहाँ तो आत्म-कल्याण में रुचिवन्त जीवों को स्व-पर आत्मा-परमात्मा, सात तत्त्व आदि प्रयोजनभूत बातों का यथार्थ निर्णय हो सके - इस प्रयोजन से नयों का विशुद्ध अनुशीलन करने का प्रयास किया जा रहा है, क्योंकि सम्पूर्ण जिनागम में प्रमाण और नय से ही वस्तु स्वरूप का निरूपण किया गया है । महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में तो सात तत्त्वों को जानने का उपाय प्रमाण-नयों को बताते हुए **'प्रमाणनयैरधिगमः'** सूत्र की रचना की गई है ।

वास्तव में प्रमाण और नय उस तराजू के समान हैं, जिन पर अनेक वस्तुओं को तोला जाता है । वजन तोलने वाला व्यक्ति तराजू का प्रयोग करना तो जानता ही है ; अन्यथा वह पदार्थों का सही वजन कैसे जान सकेगा ? अतः यदि हम प्रयोजनभूत सात तत्त्वों का सही स्वरूप जानना चाहते हैं तो हमें

प्रमाण-नय की तराजू का प्रयोग करना सीखना ही होगा, अन्यथा तत्त्वों के बारे में विपरीत श्रद्धान बना ही रहेगा, जिससे संसार भ्रमण का अन्त कभी नहीं आ सकेगा ।

****

1. नय ज्ञान की आवश्यकता

नयों को जानने की आवश्यकता के बारे में द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र की निम्न गाथा अत्यन्त प्रेरणादायक है :-

जे णय दिट्ठि विहूणा ताण ण वत्थूसहाव उवलद्धि ।
वत्थुसहाव विहूणा सम्मादिट्ठि कहं हुंति ।।

जो नय-दृष्टि (नय-ज्ञान) से रहित हैं, उन्हें वस्तुस्वभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती और जो वस्तुस्वभाव से रहित हैं, वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते है ?

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए नय-ज्ञान को अनिवार्य बताया जा रहा है ।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रमाण-नय तो पण्डितों के जानने के लिए हैं ; हमें तो आत्मा का अनुभव करना है, अत: हम इनमें क्यों उलझें, क्योंकि अनुभव में तो नय-विकल्प नहीं होते ? ऐसे लोगों से मेरा यही अनुरोध है कि वे इस प्रकरण की गंभीरता को समझें ।

अनुभव में नय विकल्प नही हैं, परन्तु शुद्धनय का विषय तो है ही । अत: नयों का प्रयोग किये बिना आत्म स्वरूप का निर्णय कैसे होगा ? रही बात पण्डिताई की तो भले कोई वक्ता हो या न हो वस्तु स्वरूप का निर्णय करना तो प्रत्येक आत्मार्थी के लिए अनिवार्य है ; और मैं पूछता हूँ कि सच्ची पण्डिताई क्या बुरी चीज है ?

आत्मानुभवी विद्वानों की प्रशंसा करते हुए तो पूज्य गुरुदेवश्री भी बारम्बार कहते हैं "दिगम्बरों ना पण्डितोए पण गजब काम कर्युं छे ।" पाण्डे राजमलजी, पण्डित बनारसीदासजी, पण्डित टोडरमलजी, पण्डित जयचन्दजी छाबडा, पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल आदि विद्वानों के प्रति उनके उद्‌गार आज भी उनके प्रवचनों के सी.डी. में उपलब्ध हैं । अरे ! प्राचीन विद्वानों की

बात तो दूर, पाण्डित्य के अभिमान पर प्रहार करते हुए भी, वे कभी-कभी अपने शिष्य विद्वानों की प्रशंसा करके उन्हें प्रोत्साहित करते हुए सुने जा सकते हैं ।

मात्र शास्त्र-ज्ञान की निरर्थकता और शास्त्राभ्यास की प्रेरणा तथा पण्डिताई के अहं पर प्रहार और पण्डितों के कार्य की उन्मुक्त प्रशंसा - ऐसा सन्तुलित दृष्टिकोण पूज्य गुरुदेवश्री के चिन्तन में ही उपलब्ध है जो हम सबके लिए अनुकरणीय है ।

जिनागम में भी अनेक प्रकार के परस्पर विसेधी दिखने वाले कथन उपलब्ध है । कहीं आत्मा को सिद्ध समान ज्ञानानन्द स्वभावी कहा गया है तो कहीं उसे अज्ञानी, मूढ और दुखी कहा गया है । कहीं उसे एक,अभेद,अखण्ड,त्रिकाली,चिद्‌घन मात्र कहा गया है तो कहीं उसे मनुष्य,तिर्यञ्च रागी-द्वेषी अथवा गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेदों से अनेक रूप कहा गया है ।

यदि इन कथनों की अपेक्षा और प्रयोजन नहीं समझें तो इनका वास्तविक मर्म कैसे जान पायेंगे ? और इनका मर्म जाने बिना आत्म-स्वरूप का यथार्थ निर्णय तथा अनुभव कैसे हो सकेगाा अत: यथार्थ तत्त्व निर्णय के लिये नयों का स्वरूप जानना आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है ।

नयज्ञान की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए नयचक्रकार लिखते हैं :-

जैसे नमक भोजन को शुद्ध कर देता है वैसे ही नयचक्र समस्त शास्त्रों को शुद्ध कर देता है । सुनय के ज्ञान से रहित जीवों के लिए सम्यक्‌श्रुत भी मिथ्या हो जाता है ।

उक्त आशय की गाथा निम्नानुसार है :-

लवणं व इणं भणियं णयचक्कं सयल सत्थसुद्धियरं ।
सम्मा वि य सुअ मिच्छा जीवाणं सुणय मग्गरहियाणं ।।

प्रश्न :- एक ओर सम्यक् श्रुत कहा जा रहा है और दूसरी ओर उसे मिथ्या भी कह रहे है;भला सम्यक् श्रुत भी मिथ्या कैसे हो सकता है ?

उत्तर :- भाई ! वह श्रुत/शास्त्र केवली के वचनानुसार वीतरागी सन्तों और ज्ञानियों द्वारा लिखा गया है - इस अपेक्षा तो सम्यक् श्रुत ही है ; परन्तु यदि हम उसे यर्थाथ अपेक्षा से ग्रहण न करेंगे तो वह हमारे ज्ञान की अपेक्षा मिथ्या ही हुआ ।

प्रश्न :- सम्यक् श्रुत भी मिथ्या हो गया - इस आशय का स्पष्टीकरण कहीं और है क्या ?

उत्तर :- आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अध्याय में जैन शास्त्रों का अभ्यास करने वालों को भी जो मिथ्यात्व होता है उसे निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास के रूप में स्पष्ट किया है । ये निश्चयाभास आदि मान्यतायें जिनवाणी का विपरीत अर्थ ग्रहण करने से ही हुई हैं । इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि नय-ज्ञान के बिना सम्यक् श्रुत भी मिथ्या हो जाता है ।

प्रश्न:- आत्मा तो स्वभाव से नयपक्षातीत है तथा अनुभूति में भी नय विकल्प नहीं रहते, फिर आत्मानुभूति के लिए नयों को जानने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर :- श्रुतभवनदीपक नयचक्र में आचार्य देवसेन ने इसी सन्दर्भ में लिखा है कि यद्यपि आत्मा स्वभाव से नयपक्षातीत है ; तथापि वह नयज्ञान के बिना पर्याय में नयपक्षातीत नहीं हो सकता, क्योंकि यह आत्मा अनादि कालीन कर्मवश से असत् कल्पनाओं में उलझा हुआ है ; अत: सत्कल्पनारूप अर्थात् सम्यक् विकल्पात्मक नयों का स्वरूप कहते हैं ।

प्रश्न:- असत् कल्पना और सत्कल्पना से क्या आशय है ?

उत्तर :-अनादिकालीन मिथ्यात्व के उदय में होने वाली मिथ्या मान्यतायें ही असत् कल्पना हैं अथवा प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों के बारे में विपरीत मान्यतायेंअसत्कल्पना है।समयसार,मोक्षमार्गप्रकाशक,योगसार,छहढाला

आदि अनेक ग्रन्थों में इन मिथ्या मान्यताओं का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

जिनागम के अभ्यास से जो विकल्पात्मक यथार्थ तत्त्वनिर्णय होता है, वही सत्कल्पना है । यह निर्णय वस्तु स्वरूप के अनुसार होने से सत् कहा गया है और निर्विकल्प अनुभूति के पूर्व मात्र धारणा ज्ञान में होने से इसे कल्पना कहा गया है ।

प्रश्न :- सत्कल्पना और निर्विकल्प अनुभूति में क्या अन्तर है ?

उत्तर :- सत्कल्पना जिनागम के अभ्यास के निमित्त से होने वाला यथार्थ तत्त्व निर्णय है जो अभी विकल्पात्मक भूमिका में हुआ है । इसमें मन के अवलम्बन से प्रमाण-नय द्वारा वस्तु स्वरूप का अथवा सात तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने के बल से स्वरूप की रूचि बढते-बढते उपयोग अन्तर्मुख हो जाता है और बुद्धिपूर्वक विकल्प भी शमित हो जाते हैं । यही निर्विकल्प अनुभूति अर्थात् पक्षातिक्रान्त दशा सदा बनी रहती है ।

प्रश्न :- क्या पक्षातिक्रान्त दशा सदा बनी रहती है ?

उत्तर :- उपयोग में निर्विकल्प दशा तो बहुत अल्पकाल तक रहती है । अतिशीघ्र पुन: शुभाशुभ विकल्प होने लगते हैं । परन्तु अभिप्राय अर्थात् प्रतीति में शुद्धात्मतत्त्व में अहं की धारा निरन्तर चालू रहती है । यह धारा भी नय विकल्प से रहित होने से पक्षातिक्रान्त है ।

इस प्रकार पक्षातिक्रान्त दशा अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए नयों के द्वारा वस्तुस्वरूप का निर्णय करके सर्वप्रथम असत्कल्पनाओं का अभाव करना आवश्यक है , जो नयज्ञान के द्वारा ही सम्भव है । षट्खण्डागम की धवला टीका में तो नयवाद में निपुण मुनियों को ही सिद्धान्त के सच्चे ज्ञाता कहते हुए लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं है । अत: वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय करने के लिये नयों का स्वरूप समझना प्रत्येक आत्मार्थी का प्रथम कर्त्तव्य है ।

****

नयों का सामान्य स्वरूप

जिनागम का मर्म समझकर आत्मानुभूति प्रगट करने के लिए नयज्ञान की अनिवार्यता स्थापित हो जाने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नय क्या है ? अर्थात् वे कोई द्रव्य हैं, गुण हैं अथवा पर्याय हैं ? अत: यहाँ पर नयों की कुछ विशेषताओं के माध्यम से नयों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. नय सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश हैं :-

नयों के बारे में सर्वप्रथम जानने योग्य तथ्य यह है कि वे जीव के ज्ञानगुण की श्रुतज्ञान रूप पर्याय हैं। तत्वार्थसूत्र में सम्यग्ज्ञान के पाँच भेदों का वर्णन करते हुए " मतिश्रुतावधिमन: पर्ययकेवलानि ज्ञानम् " सूत्र कहा गया है। इनमें श्रुतज्ञान में ही प्रमाण-नयरूप परिणमन होता है। अत: नय श्रुतज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के भेद हैं अर्थात् ज्ञान का प्रमाण-नयरूप परिणमन श्रुतज्ञान में गर्भित होता है।

प्रश्न :- नय श्रुतज्ञान में ही क्यों होते हैं, अन्य ज्ञानों में क्यों नहीं ?

उत्तर :- अनन्तधर्मात्मक वस्तु में से किसी एक धर्म को मुख्य करके जानने की प्रकिया श्रुतज्ञान में ही होती है। अथवा जो ज्ञान वस्तु के एक धर्म को मुख्य करके जानता है, वह श्रुतज्ञान होता है ; अन्य मति आदिरूप नहीं, इसलिए नय श्रुतज्ञान में ही होते हैं।

श्रुतज्ञान सम्यग्ज्ञान का ही भेद है, अत: नय भी सम्यग्ज्ञानी को ही होते हैं , अज्ञानी को नहीं।

आलापपद्धति में नय का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसकी निम्न परिभाषाएँ दी गई हैं।

1. प्रमाण द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश को ग्रहण करना नय है।
2. श्रुतज्ञान का विकल्प/भेद नय है।

3. जो वस्तु को अनेक स्वभावों से पृथक् करके एक स्वभाव में स्थापित करता है, वह नय है।

2. ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते है :-

प्रमेयकमलमार्तण्ड में नयों का स्वरूप,विषय और प्रक्रिया स्पष्ट करने वाली परिभाषा दी गई, जो निम्नानुसार है :-,

"अनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नय:"

इस परिभाषा को निम्न प्रश्नोत्तरों के माध्यम से समझने में बहुत सरलता रहेगी।

प्रश्न :- नय किसे कहते हैं ?

उत्तर :- ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

प्रश्न :- नय किसे जानता है ?

उत्तर :- नय वस्तु के अंश को जानता है।

प्रश्न :- नय किस तरह जानता है ?

उत्तर :- नय, वस्तु के विवक्षित अंश को मुख्य करके, शेष अंशों का निषेध न करता हुआ अर्थात् उन्हें गौण करता हुआ जानता है।

प्रश्न :- गौण करने का क्या अर्थ है ?

उत्तर :- किसी धर्म का लक्ष्य न करते हुए उसके बारे में चुप रहना ही उसे गौण करना है। गौण करने में उसकी सत्ता का निषेध भी नहीं है तथा उसके बारे में विधि-निषेध का कोई विकल्प भी नहीं है।

इसप्रकार उक्त परिभाषा में नय क्या है ? किसे जानता है ? और कैसे जानता है ?- इन प्रश्नों का समाधान करते हुए नयों का स्वरूप बताया गया है।

नय की उक्त तीनों विशेषताओं के बारे में कुछ प्रश्नोत्तरों के माध्यम से विशेष स्पष्टीकरण किया जाना आवश्यक है।

प्रश्न :- अभिप्राय किसे कहते हैं ?

उत्तर :- धवलाकार ने अभिप्राय शब्द का आशय स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्रमाण से गृहीत वस्तु के एक देश में वस्तु का निश्चय करना ही अभिप्राय है। अर्थात् प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में या सामान्य या विशेष में वस्तु के निश्चय करने को अभिप्राय कहते हैं और यही नय है।

प्रश्न :- यहाँ अभिप्राय शब्द का अर्थ नयात्मक श्रुतज्ञान किया जा रहा है, जबकि अन्यत्र उसे श्रद्धा गुण की प्रतीतिरूप पर्याय के अर्थ में प्रयोग किया है ?

उत्तर :- विभिन्न प्रसंगों में एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक के नवमें अध्याय मे अभिप्राय शब्द का प्रयोग श्रद्धा या प्रतीति के अर्थ में करते हैं ; किन्तु यहाँ नयों के सन्दर्भ में अभिप्राय शब्द का अर्थ नय या श्रुतज्ञान ही समझना चाहिए।

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

प्रश्न :- वस्तु के एक अंश में वस्तु का निश्चय कौन करता है ? कब करता है ? क्या हमारे व्यवहारिक जीवन में ऐसा कभी होता है ?

उत्तर :- अरे भाई ! हम और आप सभी दिन-रात अपने ज्ञान में ऐसा ही करते हैं व ऐसा ही कहते हैं। इसके बिना लोक व्यवहार भी सम्भव नहीं है। इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि मुख्यतया दो नय होने से इस जगत को दुनिया कहा जाता है।स्वाद को मुख्य करके नीबू को खट्टा कहा जाता है। जरा सोचिए कि सारा नीबू खट्टा है या मात्र उसका स्वाद
खट्टा है ? क्या नीबू का रंग, आकार, वजन, गंध आदि अन्य गुण भी खट्टे हैं ? नहीं,तो फिर सारा नीबू खट्टा कैसे हुआ ? मात्र उसका स्वाद ही तो खट्टा है न ? अत: स्वाद की अपेक्षा सारे नीबू को खट्टा कहना- यही तो वस्तु के एक अंश में सम्पूर्ण वस्तु का निश्चय करना है। इसी का नाम अभिप्राय है और इसी का नाम नय है।

वास्तव में नयों की भाषा और परिभाषा जाने बिना भी नय प्रयोग हमारे श्रुतज्ञान का स्वभाव होने से वह हमारे जीवन में गहराई से व्याप्त है। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई तथा आबाल-वृद्ध कोई भी इस प्रक्रिया से अछूता नहीं है। क्रिकेट के 11 खिलाडियों की टीम में सारे भारत की स्थापना करके सभी कहते हैं कि भारत जीत गया। प्रधानमंत्री द्वारा लिए गए निर्णयों को सारे देश का निर्णय माना जाता है। हम भारत के अत्यन्त छोटे हिस्से में रहकर भी यही कहते हैं व अनुभव करते हैं कि हम भारतवासी हैं। ये सब नय-प्रयोग ही तो हैं।

प्रश्न :- यदि ये सब नय प्रयोग हैं तो हम भी नय विशेषज्ञ हैं, फिर हमें नयचक्र क्यों पढाया जा रहा है ?

उत्तर :- भाई ! यह जीव विषय-कषाय पोषक लौकिक बातों में तो अनादिकाल से चतुर है। काम-भोग-बंध की कथा इस जीव ने अनादिकाल से सुनी है, उसका परिचय और अनुभव भी किया है ; परन्तु अपने एकत्व-विभक्त स्वरूप की बात कभी (रूचिपूर्वक) सुनी ही नहीं, उसका परिचय और अनुभव तो कहाँ से करता ? अत: लौकिक बातों में चतुर होते हुए भी हमें प्रयोजनभूत तत्त्वों का यथार्थ निर्णय आज तक नहीं हुआ, अन्यथा संसार में क्यों भटकते ? यहाँ प्रयोजनभूत तत्त्वों का निर्णय करने के उद्देश्य से ही प्रमाण और नयों का स्वरूप जानने की बात है। तत्त्वार्थसूत्र में जीवादितत्त्वों को जानने के उपाय के रूप में ही प्रमाण-नयों की चर्चा की गई है।

प्रश्न :- यहाँ तो लौकिक जीवन में सभी जीवों को नय प्रयोग करने वाला बताया गया है ; जबकि पहले यह कहा गया है कि नय ज्ञानी को ही होते हैं, अज्ञानी को नहीं ?

उत्तर :- नय सम्यक् श्रुतज्ञान में होते हैं, अत: ज्ञानी को ही होते हैं। वास्तव में नय-प्रमाण में प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों को यथार्थ जानने न जानने से ही उनमें सम्यक् या मिथ्या का भेद पडता है। इसीलिए नय, ज्ञानी

को ही होते हैं ; क्योंकि वे प्रयोजनभूत तत्त्वों को यथार्थ जानते हैं । ज्ञानीजन भी लौकिक जीवन में जो नय-प्रयोग करते हैं , वे न तो सम्यक् है न मिथ्या हैं । उन्हें लौकिक नय अवश्य कह सकते हैं । किसी व्यक्ति को ज्ञानी या अज्ञानी भी प्रयोजनभूत तत्त्वों के जानने न जानने की अपेक्षा से कहा जाता है, लौकिक ज्ञान यथार्थ होने पर भी वह मोक्षमार्ग का साधक नहीं है ; अपितु मिथ्यात्व और कषाय का पोषक होने से मिथ्याज्ञान ही है।

3. नयों की प्रवृत्ति प्रमाण द्वारा जाने गए पदार्थ के एक अंश में होती है ।

प्रश्न :- नयों की प्रवृत्ति प्रमाण द्वारा जाने गए पदार्थों में होती है, तो क्या पदार्थों को पहले प्रमाण द्वारा जाना जाए फिर नयों का प्रयोग करना चाहिए ? यदि हाँ, तो प्रमाण द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ का ज्ञान कर लेने के बाद नयों द्वारा जानने की आवश्यकता क्या है ?

उत्तर :- वास्तव में स्वानुभूति के समय ज्ञान में निर्विकल्प नयरूप एवं निर्विकल्प प्रमाणरूप परिणमन एक साथ प्रारम्भ हो जाता है । वस्तु स्वरूप का निर्णय करने के लिए मिथयात्व की मंदता में आत्मार्थी जीव जिनागम के आधार से प्रमाण और नयों का स्वरूप जानकर वस्तुस्वरूप का निर्णय करते हैं ।

प्रमाण द्वारा वस्तु के सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, नित्य-अनित्य आदि अनेक धर्म युगलों को जाने बिना किसी एक धर्म को मुख्य और शेष धर्मों को गौण कैसे किया जा सकता है ? अर्थात् परस्पर विरुद्ध धर्म युगलों में से किसी एक धर्म को मुख्य और शेष धर्मों को गौण करने के लिए वस्तु के दोनों धर्मों को जानना आवश्यक है ; अन्यथा उनमें मुख्य-गौण करने की प्रक्रिया सम्भव नहीं होगी ।

यदि सोने की अंगूठी ज्ञान का विषय न बनेगी तो मात्र स्वर्ण या अंगूठी को मुख्य कैसे किया जाएगा ? और स्वर्ण को मुख्य किये बिना उस पर से दृष्टि

हटाने का निर्णय कैसे किया जा सकता है ? इसीलिए यह कहा गया है कि प्रमाण द्वारा जाने गए पदार्थ के किसी एक अंश में नयों की प्रवृत्ति होती है । धवलाकार के निम्न कथन से भी यही आशय पुष्ट होता है -

"प्रमाण से नयों की उत्पत्ति होती है ; क्योंकि वस्तु के अज्ञात होने पर गौणता और मुख्यता का अभिप्राय नहीं बनता ।"

यहाँ यह बात भी ज्ञातव्य है कि सम्पूर्ण वस्तु को जाने बिना मात्र एक ही धर्म को जानेंगे तो शेष धर्म गौण नहीं हो सकेंगे और उनका निषेध होने से मिथ्या एकान्त अर्थात् नयाभास होगा, सम्यक् नय नहीं ।

प्रमाण द्वारा पदार्थ के परस्पर विरुद्ध धर्म एक साथ जाने जाते है ; अत: उसमें किसी धर्म का गहन परिचय प्राप्त करने का अवकाश नहीं है, जिसमें हेय-उपादेय का निर्णय नहीं हो सकता । किसी एक धर्म को मुख्य करके जानने से ही उस धर्मरूप वस्तु का प्रगाढ परिचय हो सकता है ।

प्रश्न :- केवलज्ञान के बिना हम सम्पूर्ण वस्तु को कैसे जान सकेंगे ? और सम्पूर्ण वस्तु को जाने बिना मुख्य-गौण करना कैसे सम्भव होगा ?

उत्तर :- यहाँ केवलज्ञान के समान प्रत्येक धर्म को जानना विवक्षित नहीं है, अपितु वस्तु अनन्तधर्मात्मक है - ऐसा जानना तथा उसके सामान्य-विशेष आदि धर्म युगलों को जानना - यही सम्पूर्ण वस्तु को जानना है । इसीलिए प्रमाण द्वारा वस्तु का निर्णय करने के बाद नयों द्वारा वस्तु को जानना आवश्यक है ।

एकान्तवाद का नाश करने हेतु नयों की प्रवृत्ति :-

नयचक्रकार माइल्लधवल लिखते हैं :- अनेक स्वभावों से परिपूर्ण वस्तु को प्रमाण द्वारा ग्रहण करने के पश्चात् एकान्तवाद का नाश करने के लिए नयों की योजना करना चाहिए ।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नय स्वयं सम्यक् एकान्त स्वरूप

हैं, इसलिए नय-प्रयोग से सम्यक् एकान्त का प्रसंग आएगा, इससे एकान्त का नाश कैसे होगा ? इस प्रश्न के समाधान हेतु आचार्य समन्तभद्र रचित निम्न कारिका द्रष्टव्य है :-

अनेकान्तोऽप्यनेकान्त: प्रमाणनयसाधन: ।
अनेकान्त: प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ।।

आप्तमीमांसा, कारिका.....

प्रमाण और नय है साधन जिसके- ऐसा अनेकान्त भी अनेकान्त स्वरूप है ; क्योंकि सर्वांशग्राही प्रमाण की अपेक्षा वस्तु अनेकान्त स्वरूप एवं अंशग्राही नय की अपेक्षा वस्तु एकान्त स्वरूप है ।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि अनेकान्तवादी जैनदर्शन ने अनेकान्त में भी अनेकान्त स्वीकार किया गया है । सर्वथा अनेकान्त मानना भी एकान्त है , जिसके नाश के लिये नय योजना करना चाहिए । अर्थात् कथंचित् अनेकान्त और कथंचित् एकान्त स्वीकार करने पर ही सम्यक् अनेकान्त होता है ।

इस प्रकरण पर अनेकान्त और स्याद्वाद विषय पर विवेचन करते समय सोदाहरण स्पष्टीकरण किया जाएगा ।

4. मुख्य धर्म विवक्षित और शेष धर्म अविवक्षित्त रहते हैं :-

वक्तुरिच्छा विवक्षा अर्थात् वक्ता की इच्छा को विवक्षा कहते है । वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्य करके वस्तु का कथन करना ही विवक्षा कहलाता है । वक्ता जिस धर्म को मुख्य करना चाहे उसे मुख्य करके वस्तु का कथन करता है । यह बात सुनकर ऐसा लगता है कि वक्ता को अपनी मन-मर्जी करने की छूट दी जा रही हो ; परन्तु यहाँ मन-मर्जी की बात नहीं है । वक्ता किसे विषय बनाना चाहेगा यह बहुत कुछ श्रोताओं पर निर्भर होता है ; क्योंकि उसके द्वारा किसी धर्म को मुख्य करने का प्रयोजन श्रोताओं के तत्सम्बंधी अज्ञान का नाश करना है । श्रोताओं में पर्यायपक्ष का जोर हो तो वह द्रव्यपक्ष को मुख्य

करेगा । इसीप्रकार यदि श्रोताओं में क्रियाकाण्ड का पक्ष प्रबल हो तो वक्ता भाव पक्ष की मुख्यता करता है ।

इसप्रकार वक्ता जिस धर्म को मुख्य करता है उसे विवक्षित और शेष धर्मों को अविवक्षित कहते हैं ।

5. ज्ञानात्मक और वचनात्मक नय :-

नय श्रुतज्ञान के भेद है । श्रुत भी द्रव्यश्रुत और भावश्रुत के भेद से दो प्रकार का माना गया है । अत: जब ज्ञान में वस्तु के किसी अंश को मुख्य करके जानते हैं तो ज्ञानात्मक नय-होते हैं और जब वाणी द्वारा वस्तु के किसी धर्म को मुख्य करके कहा जाए तो वचनात्मक नय होते हैं । पञ्चाध्यायीकार पौद्गलिक शब्दों को द्रव्यनय और जीव के चैतन्यगुण को भावनय कहते हैं ।

नय सम्यक् श्रुतज्ञान का भेद है ; अत: उनका वक्ता भी ज्ञानी होगा । अत: ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहें या वक्ता के अभिप्राय को नय कहें - एक ही बात है ।

6. नय सापेक्ष ही होते हैं और निरपेक्षनय नहीं :-

नयों के बारे में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि वे सापेक्ष होते हैं । यदि नय सापेक्ष न हों तो वे नय नहीं नयाभास होंगे अर्थात् मिथ्यानय होंगे । आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में कहते हैं :-

"निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत"

निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक् और सार्थक होते हैं। सापेक्षनय को सुनय और निरपेक्षनय को दुर्नय कहा गया है।

प्रश्न :- वस्तुस्वभाव तो निरपेक्ष है, फिर उसे जाननेवाले नय सापेक्ष कैसे होंगे ?

उत्तर :- स्वभाव निरपेक्ष है - इसका अर्थ यह है कि वस्तु की सत्ता, स्वतन्त्रता, और प्रभुता पर-पदार्थों के आधीन नहीं है। वस्तु अपने स्वरूप से ही सत् है - यही उसकी निरपेक्षता है ; परन्तु उसमें विद्यमान अनन्तधर्मों को मुख्य-गौण करके ही जाना और कहा जा सकता है। **किसी एक धर्म को मुख्य करना ही सापेक्षता है।**

अपेक्षा शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। जहाँ वस्तु को पर और पर्यायों से निरपेक्ष कहा जाता है, वहाँ पराधीनता के अर्थ में अपेक्षा शब्द का प्रयोग करके उसे निरपेक्ष अर्थात स्वाधीन कहा जाता है।

अपेक्षा का लौकिक अर्थ किसी से कुछ चाहना अर्थात् आशा करना है। प्राय: यह कहा जाता है कि हमें तो उनसे ऐसी अपेक्षा नहीं थी-या ऐसी अपेक्षा थी। नयों की सापेक्षता के प्रसंग में यह अर्थ अभीष्ट नहीं है।

न्यायशास्त्र में अपेक्षा शब्द का प्रयोग अविनाभावित्व के अर्थ में भी किया जाता है। द्रव्य और पर्याय परस्पर सापेक्ष हैं अर्थात दोनों एक दूसरे के बिना नहीं होते। पर्याय रहित द्रव्य नहीं होता और द्रव्य बिना पर्याय नहीं होती। नय परस्पर सापेक्ष होते हैं - इस कथन का आशय यह भी है कि वस्तु में निश्चय-व्यवहार का द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों के विषयभूत धर्म साथ-साथ होते हैं। परन्तु नयों की सापेक्षता का अर्थ मात्र सात रहने तक ही सीमित नहीं है।

विवक्षित धर्म को मुख्य करना अपेक्षा ही है और इसी का नाम नय है। मुख्य करने से आशय उस धर्म की दृष्टि से वस्तु को देखना। आत्मा एक, अभेद, नित्य ध्रुव है, यदि ये विशेषण द्रव्यदृष्टि से अर्थात द्रव्य की अपेक्षा या द्रव्यार्थिक

नय की अपेक्षा कहे जायें तो सम्यक् एकान्त होगा तथा द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा न लगाई जाए तो वस्तु को सर्वथा एक, अभेद, नित्य मानने का प्रसंग आयेगा और अनित्यादि धर्मों के निषेध होने का प्रसंग आ जाने से यह कथन मिथ्या एकान्त या नयाभास कहलाएगा।

इसीप्रकार आत्मा को अनेक, अनित्य तथा भेदरूप कहना पर्याय की अपेक्षा अर्थात् पर्याय को मुख्य करके ही सम्भव है ; अन्यथा द्रव्यपक्ष का लोप हो जाने से आत्मा को सर्वथा अनित्य माना जायेगा, जिससे मिथ्या एकान्त या नयाभास का प्रसंग आएगा।

इसप्रकार किसी अपेक्षा से कहो या किसी धर्म को मुख्य करना कहो - एक ही बात है। इसीलिए सापेक्षनय ही सम्यक् कहे गए हैं और निरपेक्षनय अर्थात् बिना अपेक्षा वस्तु को सर्वथा एक धर्मरूप कहने वाले नय मिथ्या और निरर्थक कहे गए हैं। मिथ्यानयों से वस्तु का यर्थाथ निर्णय नहीं होता, इसलिए उन्हें निरर्थक कहा गया है।

प्रश्न :- कुछ लोग कहते हैं कि अपेक्षा लगाकर वस्तु को ढीला नहीं करना चाहिए ?

उत्तर :- इस कथन की भी अपेक्षा समझना चाहिए। जो लोग आत्मा के त्रिकाली शुद्ध स्वभाव को नहीं मानते तथा उसे सर्वथा अशुद्ध मानते हैं, वे कहते हैं कि हाँ-हाँ आत्मा शुद्ध तो है पर यह निश्चय नय का कथन है। निश्चय से तो आत्मा शुद्ध है, पर व्यवहार से तो अशुद्ध है न ! अभी हम उसे शुद्ध कैसे मान सकते हैं..... इत्यादि अनेक प्रकार से निश्चय से शुद्ध कहते हुए भी अभिप्राय में शुद्ध स्वभाव का निषेध ही करते हैं।

अपेक्षा लगाने का सम्यक् फल यह है कि वस्तु के उस पहलू को जानकर हेय-उपादेय का निर्णय किया जाए। परन्तु बहुत से लोग ऐसा न करके मात्र बातों में अपेक्षा लगाकर अपने विपरीत अभिप्राय की पुष्टि करते

हैं, इसलिए यह कहते हैं कि अपेक्षा लगाकर वस्तु को ढीली नहीं करना चाहिए।

प्रश्न :- यह भी कहा जाता है कि आत्मा निश्चय से शुद्ध नहीं है, वह तो स्वभाव से शुद्ध है - इस कथन का क्या आशय है ?

उत्तर :- निश्चयनय अर्थात् शुद्ध स्वभाव को जाननेवाली ज्ञान की पर्याय निश्चयनय आत्मा को शुद्ध जानता है, शुद्ध करता नहीं है। इसलिए कहा जाता है कि आत्मा किसी नय अर्थात् जानने से शुद्ध नहीं है, शुद्ध तो वह अपने स्वभाव से है। अज्ञानी शुद्ध स्वभाव को नहीं जानते तो भी उनका त्रिकाली स्वभाव तो शुद्ध ही है। शुद्ध स्वभाव को न जानने से ही वे संसार में भ्रमण कर रहे हैं।

स्वभाव से शुद्ध कहने का आशय यह है कि स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध है। अत: इसमें अपेक्षा का मूक प्रयोग है। यदि स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध न माना जाए तो सर्वथा शुद्ध मानने का प्रसंग आने से मिथ्या एकान्त या नयाभास हो जाएगा। इसप्रकार नय और अपेक्षा पर्यायवाची ही सिद्ध होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सापेक्ष नय सम्यक् होते हैं ; निरपेक्ष नय नहीं ।

****

3. नयों की प्रमाण से भिन्नता और अभिन्नता

पिछले अध्याय में नयों के स्वरूप की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया गया है कि वे प्रमाण द्वारा जानी गई वस्तु के किसी एक अंश को मुख्य करके उस अपेक्षा से वस्तु को वैसी ही अर्थात् उसी धर्ममय जानते हैं।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि नय और प्रमाण एक ही हैं या भिन्न-भिन्न ? प्रमाण सकलादेशी और नय विकलादेशी कहे गये हैं। इसप्रकार दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न होने के कारण नय, प्रमाण से भिन्न हुए। प्रमाण से भिन्न होने से वे अप्रमाण हुए, अत: उनके द्वारा वस्तु का जानना भी अप्रमाण ठहरा ? और यदि नय अप्रमाणरूप नहीं है तो वे प्रमाणरूप ही हुए, अत: उनके पृथक् से प्रयोग की क्या आवश्यकता है ? प्रमाण से ही वस्तु का निर्णय क्यों न किया जाये ? अन्य दर्शनों में भी मात्र प्रमाण की ही चर्चा है, नयों की चर्चा तो मात्र जैनदर्शन में ही है, जो प्रमाणरूप होने से अनावश्यक प्रतीत होते हैं ?

श्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानन्दि ने इस प्रकरण को स्पष्ट करते हुए कहा है कि नय न तो प्रमाण हैं और न अप्रमाण, किन्तु वे ज्ञानात्मक होने से प्रमाण के एकदेश हैं।

प्रमाण का एकदेश प्रमाण से सर्वथा अभिन्न नहीं है, इसलिए नय सर्वथा प्रमाणरूप नहीं है तथा सर्वथा भिन्न भी नहीं है, इसलिए नय सर्वथा अप्रमाणरूप नहीं हैं। देश और देशी अर्थात् अंश और अंशी में कथञ्चित भेद माना गया है ; अत: नय प्रमाणैकदेश होने से कथञ्चित प्रमाणरूप हैं और कथञ्चित प्रमाण से भिन्न हैं।

प्रश्न :- नय भी स्व-पदार्थों का निश्चय करते हैं, अत: **'स्वापूर्वार्थ निश्चयात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'** - इस परिभाषा के अनुसार उन्हें प्रमाणरूप ही क्यों न माना जाए ?

उत्तर :- स्व-पर पदार्थों के एकदेश को जानना नय का लक्षण है, तथा सर्वदिशा को जानना प्रमाण का लक्षण है ; अत: नयों को सर्वथा प्रमाणरूप मानना ठीक नहीं है ।

श्लोकवार्तिक में इस प्रकरण को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि वस्तु का एकदेश न तो वस्तु है और न अवस्तु है । समुद्र की बूँद को सर्वथा समुद्र भी नहीं कह सकते और न सर्वथा असमुद्र कह सकते हैं । यदि एक बूँद ही समुद्र माने तो बहुत से समुद्र हो जायेंगे । ऐसी स्थिति में एक अखण्ड समुद्र का क्या स्वरूप रहेगा ? एक बूँद को असमुद्र मानने पर समुद्र की सभी बूँदे असमुद्र हो जायेंगी तो समुद्र का अस्तित्व ही न रहेगा ।

प्रश्न :- जब अंशी को जानने वाला ज्ञान प्रमाण है तो अंश को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण क्यों न माना जाए ?

उत्तर :- अंशी या धर्मी प्रमाण का विषय नहीं, अपितु द्रव्यार्थिकनय का विषय है तथा वस्तु का एक अंश या धर्म पर्यायार्थिकनय का विषय है । इसप्रकार अंशी और अंश दोनों ही पृथक्-पृथक् नय के विषय हैं और दोनों को एक साथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है ।

प्रश्न :- उक्त स्पष्टीकरण से ऐसा लगता है कि अभेद वस्तु प्रमाण का विषय है और वस्तु के गुण-पर्याय रूप भेद नय के विषय हैं ?

उत्तर :- जिसमें सभी भेद गौण हैं - ऐसा अभेद भी द्रव्यार्थिकनय का विषय है, प्रमाण का नहीं । भेद और अभेद को एक साथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है । अभेद और भेद को पृथक् -पृथक् जानना नय का विषय है ।

वस्तुत: अखण्ड द्रव्य व्यापक होने से वह अपने अनन्त गुण, धर्म, स्वभाव तथा त्रिकालवर्ती पर्यायों में व्याप्त होकर रहता है । गुण, धर्म आदि द्रव्य के अंश तो है ; परन्तु एक गुण, धर्म आदि ही सम्पूर्ण द्रव्य नहीं हो सकते है ।

काश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत एक अखण्ड राष्ट्र है । एक-एक इंच

भूमि में भारत व्याप्त है ; परन्तु एक नगर ही भारत नहीं कहा जा सकता । यदि एक नगर को भारत माना जाए तो शेष सभी नगर भारत से भिन्न होने से परदेश हो जायेंगे अथवा प्रत्येक नगर भारत कहलाएगा और एक अखण्ड भारत खण्ड-खण्ड हो जाएगा । यदि एक नगर को भारत का अंश भी स्वीकार न किया जाए तो कोई दूसरा नगर भी भारत न कहा जा सकेगा और भारत के सर्वथा लोप होने का प्रसंग आएगा ।

इसप्रकार भारत देश के एक नगर की भाँति नय और प्रमाण की विषयभूत वस्तु भी परस्पर कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न समझना चाहिए । अर्थात् वस्तु के गुण-पर्याय अंशों को अखण्ड वस्तु से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न समझना चाहिए ।

प्रश्न :- अखण्ड द्रव्य को उसके गुण-पर्यायों से कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न मानने से क्या लाभ है ?

उत्तर :- अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त - ऐसे निजपद की प्राप्ति के अलावा अन्य किसी प्रकार से कार्यकारी नहीं है । अखण्ड वस्तु को उसके गुण-पर्यायों से कथञ्चित् अभिन्न स्वीकार करने से शुद्धनय के विषयभूत अभेद द्रव्य की सिद्धि होती है तथा कथञ्चित् भिन्न मानने से गुण-पर्यायरूप प्रत्येक अंश का भी स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है । इसप्रकार अभेद और भेद दोनों को मुख्य-गौण भाव से जानने से सम्यक् एकान्त की तथा दोनों को प्रधान रूप से जानने पर सम्यक् अनेकान्त की सिद्धि होती है ।

भेद और अभेद के सम्यक् एकान्त को स्वीकार न किया जाए तो सम्यक् एकान्त के बिना अनेकान्त अर्थात् प्रमाण की विषयभूत वस्तु भी सर्वथा अनेकान्तरूप हो जाएगी, जिससे एकान्त का ही प्रसंग आएगा ।

सोने की अंगूठी को सर्वथा स्वर्ण मानने पर अंगूठी का लोप होने का तथा सर्वथा अंगूठी मानने पर स्वर्णमात्र का ही लोप होने का प्रसंग आएगा । अत: उसे कथञ्चित् स्वर्णरूप और कथञ्चित् अंगूठीरूप तथा प्रमाण विवक्षा

में सोने की अंगूठी इसप्रकार दोनों रूप स्वीकार करना होगा।

प्रमाण और नय की भिन्नता स्पष्ट करते हुए धवलाकार लिखते हैं - प्रमाण, नय नहीं हो सकता ; क्योंकि उसका विषय अनेकान्त अर्थात् अनन्तधर्मात्मक वस्तु है और न नय, प्रमाण हो सकता है ; क्योंकि उसका विषय एकान्त अर्थात् अनन्तधर्मात्मक वस्तु का एक अंश है।

आचार्य अकलंकदेव भी नय को सम्यक् एकान्त और प्रमाण को सम्यक् अनेकान्त घोषित करते हुए लिखते हैं कि नय विवक्षा वस्तु के एक धर्म का निश्चय करानेवाली होने से एकान्त है और प्रमाण विवक्षा वस्तु के अनेक धर्मों की निश्चयस्वरूप होने से अनेकान्त है।

नय वाक्यों में स्यात् शब्द लगाकर बोलने को प्रमाण कहते हैं। अस्तित्वादि जितने भी वस्तु के निजस्वभाव हैं, उन सबको अथवा विरोधी धर्मों को युगपत् ग्रहण करनेवाला प्रमाण है और उन्हें गौण-मुख्य भाव से ग्रहण करनेवाला नय है।

अवक्तव्य और वक्तव्य नयों को नय-प्रमाण की भाषा में प्रस्तुत करते हुए पञ्चाध्यायीकार लिखते हैं- 'तत्त्व अनिर्वचनीय है' यह शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का पक्ष है। द्रव्य, गुण-पर्यायवान है' यह पर्यायार्थिकनय का पक्ष है और जो यह अनिर्वचनीय है वही गुण-पर्यायवान है, कोई अन्य नहीं और जो यह गुण-पर्यायवान है वही तत्त्व है - ऐसा प्रमाण का पक्ष है।

ऐसे ही प्रयोग शुद्ध-अशुद्ध, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि धर्मों पर भी किये जाने चाहिए।

जो यह संसारी जीव है, वह सिद्ध समान शुद्ध स्वभाववाला है और जो यह सिद्ध समान शुद्ध स्वभाववाला जीव है, वह संसारी जीव है - इसप्रकार दोनों धर्मों को जानकर ही वर्तमान पर्याय से दृष्टि हटाकर शुद्धस्वभाव का अवलम्बन किया जा सकता है। अत: आत्महित के लिए वस्तु को प्रमाण से जानकर उपादेयभूत शुद्धात्मा का अवलम्बन करना ही मुक्ति का मार्ग है।

******

4. नयों के मूल भेद

नयों की उपयोगिता, स्वरूप और प्रमाणिकता पर विचार करने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नय कितने प्रकार के हैं अर्थात् उनके कितने भेद हैं ?

जिनागम में नयों के भेदों की चर्चा भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है, मुख्यतया नयों के भेद निम्नानुसार उपलब्ध होते हैं :-

(अ) निश्चय-व्यवहार
(ब) द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक
(स) नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत।
(द) शब्दनय, अर्थनय और ज्ञाननय
(क) द्रव्यनय और भावनय
(ख) प्रवचनसार में वर्णित 47 नय

इनके अलावा सन्मति तर्क में नयों के संख्यत भेद, धवला में असंख्यात भेद और सर्वार्थसिद्धि एवं प्रवचनसार में नयों के अनन्त भेद भी कहे गए हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त शक्तियाँ होती है ; अत: प्रत्येक शक्ति को जाननेवाले ज्ञान की अपेक्षा नय के अनन्त भेद भी माने जा सकते हैं।

यद्यपि नयों के भेद-प्रभेदों की चर्चा बहुत विस्तार से उपलब्ध होती है ; तथापि द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र में निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक -पर्यायार्थिक दोनों समूहों को नयों के मूलभेद के रूप में बताते हुए कहा गया है :-

णिच्छयववहारणया मूलिमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ पज्जयदव्वत्थियं मुणह ॥182॥

सर्वनयों के मूल निश्चय और व्यवहार ये दो नय हैं। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक - ये दोनों निश्चय-व्यवहार के हेतु हैं।

उक्त गाथा का अर्थ अन्यत्र निम्नानुसार भी किया गया है :-

नयों के मूलभूत निश्चय और व्यवहार ये दो भेद माने गए हैं , उसमें निश्चय नय तो द्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर्यायाश्रित है - ऐसा समझना चाहिए ।

उक्त गाथा में निश्चय-व्यवहार को मूलनय बताते हुए द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को उनका हेतु कहा गया है, जबकि उक्त गाथा के तत्काल बाद द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को ही मूलनय कहा गया है । वह गाथा निम्नानुसार है :-

दो चेव य मूलणया भणिया दव्वत्थ पज्जयत्थगया ।
अण्णे असंखसंखा ते तब्भेया मुणेयव्वा ।। 183 ।।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दो ही मूलनय कहे गए हैं , अन्य असंख्यात संख्या को लिए इनके ही भेद जानना चाहिए ।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक इन दोनों जोडों को मूलनय कहा गया है । जबकि इससे पहले वाली गाथा में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का निश्चय-व्यवहार को ही मूलनय कहा गया है । इस सन्दर्भ में निम्न प्रश्न सहज ही उत्पन्न होते हैं :-

1. क्या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार पर्यायवाची हैं ?
2. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार में क्या अन्तर हैं ?
3. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक को निश्चय-व्यवहार का हेतु कहने का क्या आशय हैं ?

यहाँ इन तीनों प्रश्नों पर क्रमश: विचार किया जा रहा है :-

1. क्या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार पर्यायवाची हैं ?

पञ्चाध्यायीकार गाथा 1/521 में लिखते हैं - पर्यायार्थिक कहो या व्यवहारनय - इन दोनों का एक ही अर्थ है, क्योंकि इस नय के विषय में जितना भी व्यवहार होता है, वह उपचार मात्र है ।

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र गाथा 182 का द्वितीय अर्थ करते हुए निश्चयनय को द्रव्याश्रित और व्यवहारनय को पर्यायश्रित कहा गया है ।

वस्तुत: द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्यांश निश्चयनय का विषय भी बनता है । तथा पर्यायार्थिनय का विषयभूत पर्यायांश व्यवहारनय का विषय भी बनता है । इसलिये निश्चयनय और द्रव्यार्थिक तथा व्यवहारनय और पर्यायार्थिक नयों में अति निकटता भासित होने से इन्हें पर्यायवाची समझ लिया जाता है । परन्तु यदि ये दोनों जोडे सर्वथा पर्यायवाची होते तो जिनागम में इन्हें अलग-अलग क्यों कहा जाता ? तथा इनके भेद-प्रभेद तो बिल्कुल अलग शैली में किये गए हैं, अत: इनमें अति निकटता भासित होने पर भी इन्हें पर्यायवाची नहीं माना जा सकता ।

समयसार गाथा 8 से 12 में व्यवहारनय को निश्चयनय का प्रतिपादक कहकर भी व्यवहार को अभूतार्थ एवं निश्चय को भूतार्थ कहा गया है । सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए भूतार्थ का आश्रय करने की प्रेरणा देते हुए व्यवहार को मात्र जाना हुआ प्रयोजवान कहा गया है । परन्तु तेरहवीं गाथा की टीका में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों को भेद की अपेक्षा भूतार्थ और अभेद निर्विकल्प अनुभूति की अपेक्षा अभूतार्थ कहा गया है ।

यह तथ्य भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि समयसार में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की चर्चा बहुत कम आई है ; जबकि निश्चय-व्यवहार की चर्चा मूलग्रन्थ में, टीका में तथा भावार्थ में बहुत की गई है ।

अत: यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये दोनों जोडे जिनागम की दो प्रकार की कथन शैलियों के भेद है । अध्यात्म पद्धति में मुख्यत: निश्चय-व्यवहार शैली का और आगम की पद्धति में मुख्यत: द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक शैली का प्रयोग देखा जाता है । अत: इन दोनों शैलियों को एक दूसरें में मिलाकर देखने के बदले इन्हें पृथक् -पृथक् सन्दर्भ में देखना चाहिए ।

2. निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक में अन्तर :-

उक्त दोनों शैलियों में समानता होने पर भी जिनागम में उपलब्ध इनके प्रयोगों के आधार पर निम्न अन्तर दृष्टिगोचर होते हैं।

निश्चय-व्यवहार	द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक
1. इनका प्रयोग मुख्यतया अध्यातम शैली में किया जाता है।	1.इनका प्रयोग मुख्यतया आगम शैली में किया जाता है।
2. इनमें प्रतिपाद्य-प्रतिपादक तथा निषेध्य- निषेधक सम्बन्ध कहा गया है।	2.इनमें इसप्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं कहा गया है।
3. निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहा गया है।	3.इनको भूतार्थ-अभूतार्थ के रूप में नहीं कहा गया है।
4. निश्चय को उपादेय और व्यवहार को हेय कहा गया है।	4.दोनों नयों की विषय वस्तु को मुख्यतया ज्ञेय कहा गया है।
5. इनके भेद-प्रभेद शुद्ध-अशुद्ध तथा सद्भूत -असद्भूत के रूप में किए गए हैं।	5.द्रव्यार्थिक नय के दस और पर्यायार्थिक नय के छह भेद अलग प्रकार से किये गए हैं।
6. निश्चय-व्यवहार नय मुख्यत: आत्मा पर लागू होते हैं।	6. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय छहों द्रव्यों पर लागू होते हैं।
7. निश्चय-व्यवहार प्रयोजन परक नय हैं।	7. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक वस्तु परक नय है।
8. निश्चय-व्यवहार का संबंध वस्तु के दो भागों से नहीं हैं।	8. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक का संबंध वस्तु के दो मूल भाग द्रव्य-पर्याय से है।
9. निश्चय-व्यवहार शैली में संयोग संबंधों की चर्चा भी होती है।	9. द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक में मुख्यतया एक ही वस्तु की चर्चा होती है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय निश्चय-व्यवहार नयों के हेतु किस प्रकार है :-

द्रव्यार्थिक नय की विषय वस्तु में निश्चय और व्यवहार दोनों नय घटित होते हैं तथा पर्यायार्थिक नय की विषय-वस्तु में भी निश्चय-व्यवहार दोनों नय घटित होते हैं। अत: निश्चय-व्यवहार दोनों का हेतु द्रव्यार्थिक नय भी है और पर्यायार्थिकनय भी है। निश्चय का हेतु मात्र द्रव्यार्थिक नय और व्यवहारनय का हेतु मात्र पर्यायार्थिक नय हो - ऐसा नहीं है।

यथार्थ निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहा गया है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयों के विषय का निरूपण यथार्थ और उपचरित दोनों रूपों में होता है, अर्थात् द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय- इन दोनों पर निश्चय और व्यवहार नयों का प्रयोग किया जाता है, अत: द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक दोनों को निश्चय-व्यवहार दोनों का हेतु अथवा आधार कहा गया है।

द्रव्यार्थिकनय के विषय में निश्चयनय के प्रयोग :-

1. परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत अखण्ड निर्विकल्प वस्त्वंश को ही परमशुद्धनिश्चय का विषय कहा गया है।

2. शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के तीन भेदों का विषय भी परमशुद्ध निश्चयनय का विषय है।

3. कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत द्रव्यांश अशुद्ध निश्चयनय का विषय भी बनता है।

द्रव्यार्थिकनय के विषय में व्यवहारनय का प्रयोग :-

1. द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्यांश में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा सामान्य-अभेद-नित्य और एक -ऐसे विशेषणों से भेद करना भी व्यवहारनय का विषय है।

2. अखण्ड द्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य / द्रव्य-पर्याय का भेद करना

भी व्यवहार नय का विषय है।

3. अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत भेद-कल्पना, उत्पाद-व्यय तथा कर्मोपाधि में से दृष्टि हटाने के लिए उन्हें गौण करके व्यवहारनय का विषय कहा जाता है।

पर्यायार्थिक नय के विषय में निश्चयनय का प्रयोग :-

किसी भी पर्याय के स्व-स्वामी, कर्त्ता-कर्म आदि का यथार्थ अथवा स्वाश्रित निरूपण निश्चयनय का विषय कहा जाता है।

अ. रागादि भावों का कर्त्ता आत्मा स्वयं है।

ब. शुभभाव निश्चय से बन्ध का कारण है।

स. शरीरादि पर-पदार्थों की क्रिया का कर्त्ता निश्चय से पुद्गलद्रव्य ही है।

पर्यायार्थिकनय के विषय में व्यवहारनय के प्रयोग :-

अ. रागादिभावों का कर्त्ता पुद्गल कर्म या नोकर्म है।

ब. शुभराग व्यवहार से मुक्ति का मार्ग है।

स. शरीरादि पर-पदार्थों की क्रिया का कर्त्ता आत्मा है।

अखण्ड वस्तु में किसी भी प्रकार का भेद करना सद्भूत व्यवहार नय का विषय भी है और पर्यायार्थिक नय का विषय भी है।

इसप्रकार द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों के विषयभूत वस्तु का कथन निश्चय-व्यवहार नयों की शैली में भी उपलब्ध होता है; अत: निश्चय-व्यवहार नयों की आधार भूमि द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय होने से ये उनके हेतु कहे जाते हैं।

उक्त कथन में यह आशय भी गर्भित है कि आगम, अध्यात्म का हेतु है। आत्मा का साक्षात् हितकारी तो अध्यात्म ही है, और आगम, अध्यात्म का आधार है, कारण है या साधन है। अत: द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक और निश्चय-व्यवहार इन चारों को नयों का मूल भेद मानकर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि नयों के मूल भेद निश्चय-व्यवहार ही हैं, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तो उनके हेतु होने से मूल नय कहे गए हैं।

5. निश्चयनय और व्यवहारनय

नयों के मूलभेद निश्चय-व्यवहार हैं - ऐसा निष्कर्ष प्रतिफल होने के पश्चात् इनके सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा करने का समय आ गया है।

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी द्वारा उद्घाटित तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार के कारण दिगम्बर जैन समाज में निश्चय-व्यवहार की चर्चा भी बहुत होने लगी। परन्तु इनके स्वरूप, प्रयोग और प्रयोजन के बारे में गहन और व्यवस्थित चिन्तन के अभाव में इस सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ भी उत्पन्न होने लगी। जिससे संघर्ष और वैमनस्य भी होने लगा। यहाँ तक कि श्रावक, विद्वान और अनेक साधु-सन्त भी निश्चयवाले और व्यवहारवाले कहे जाने लगे।

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा आत्मधर्म एवं वीतराग-विज्ञान मासिक पत्रिका में लिखे गए सम्पादकीय लेखों तथा इनके संकलन परमभाव प्रकाशक नयचक्र जैसी कृतियों में उपलब्ध सन्तुलित विवेचन से वर्तमान में यद्यपि अनेक भ्रान्तियाँ प्रक्षालित होने लगी हैं, तथापि निश्चय-व्यवहार के सम्बन्ध में और अधिक स्पष्ट, व्यवस्थित और गहन विवेचन की आवश्यकता प्रतीत होती है, ताकि सामाजिक शान्ति के साथ-साथ आत्मकल्याण की दिशा में भी प्रयास वृद्धिगत हो सके। अत: अब निम्न छह बिन्दुओं के आधार से निश्चय-व्यवहार का विवेचन करना अभीष्ट है।

1. परिभाषा एवं विषय वस्तु 2. निश्चय-व्यवहार की भूतार्थता और अभूतार्थता 3. प्रतिपाद्य-प्रतिपादक एवं निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध 4. निश्चय-व्यवहार में परस्पर विरोध और अविरोध 5. व्यवहार-निश्चय में हेय-उपादेयपना 6. पक्षातिक्रान्त दशा।

1. परिभाषा एवं विषय-वस्तु :- निश्चय-व्यवहार की परिभाषा अथवा विषय-वस्तु को श्री समयसार गाथा 27 एवं 7 के आधार से बहुत सरलता से समझा जा सकता है।

27 वीं गाथा इसप्रकार है :-

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ।।

व्यवहारनय कहता है कि जीव और देह एक ही है और निश्चयनय कहता है कि जीव और देह कदापि एक नहीं हो सकते ।

इस गाथा में जीव और शरीर के संयोग की मुख्यता से उन्हें एक कहना व्यवहारनय का कोई कार्य कहा गया है तथा स्वभाव की मुख्यता से उन्हें भिन्न-भिन्न कहना निश्चयनय का कार्य कहा गया है ।

इसप्रकार दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं में एकता स्थापित करना व्यवहारनय का कार्य है । इसी एकता के आधार से व्यवहारनय उनमें कर्त्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य आदि सम्बन्ध भी बताता है । इसके विपरीत निश्चयनय दो वस्तुओं में किसी प्रकार के सम्बन्ध का निषेध करके उन्हें अत्यन्त भिन्न बताता है अर्थात् दो वस्तुओं में सम्बन्ध देखना व्यवहारनय का कार्य है और उन्हें भिन्न-भिन्न कहना निश्चयनय का कार्य है ।

सातवीं गाथा में दो वस्तुओं की चर्चा नहीं है । वहाँ एक अखण्ड वस्तु में ही कर्त्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य आदि का भेद करना व्यवहारनय का कार्य कहा गया है तथा भेद का निषेध करके वस्तु को अभेद अखण्ड निर्विकल्प रूप में देखना निश्चयनय कार्य कहा गया है ।

गाथा मूलत: निम्नानुसार है :-

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दसणं जाणगो सुद्धो ।।

ज्ञानी (आत्मा) के चारित्र, दर्शन और ज्ञान ये तीन भाव व्यवहार से कहे गये हैं, निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है ।

यहाँ व्यवहारनय ने एक अखण्ड आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद करके समझाया है ; किन्तु निश्चयनय ने सब भेदों का निषेध करके आत्मा को अभेद, ज्ञायकरूप कहा है ।

अभेद वस्तु में भेद करके कहना व्यवहारनय है तथा भेद का निषेध करके अभेद वस्तु को बताना निश्चयनय है - इस आशय के कथन माइल्लधवलकृत नयचक्र, आलापपद्धति, पञ्चाध्यायी, तत्त्वानुशासन आदि अनेक ग्रथों में उपलब्ध होते हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्रदेव समयसार की आत्मख्याति टीका में आत्माश्रित कथन को निश्चयनय और पराश्रित कथन को व्यवहारनय कहते हैं ।

समससार में ही भूतार्थ को निश्चय और अभूतार्थ को व्यवहार भी कहा गया है ।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के सातवें अधिकार में दो वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करनेवाले व्यवहार की अपेक्षा निश्चय-व्यवहार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए निम्न निष्कर्ष निकाले हैं :-

1. सच्चे निरूपण को निश्चय और उपचरित निरूपण को व्यवहार कहते हैं ।

2. एक ही द्रव्य के भाव को उसरूप ही कहना निश्चयनय है और उसी भाव को उपचार से अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप कहना व्यवहारनय है ।

3. जिस द्रव्य की जो परिणति हो उसे उसी की कहना निश्चयनय है और उसे ही अन्य द्रव्य की कहना व्यवहारनय है ।

4. व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्य का उनके भावों को व कारण-कार्यादिक को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इसलिए उसका त्याग करना तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपण करता है, किसी को किसी में नहीं मिलाता, सो ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है, इसलिए उसका श्रद्धान करना ।

उक्त चारों बिन्दुओं को निम्न प्रयोगों के माध्यम से समझा जा सकता है ।

1. आत्मा को ज्ञानस्वभावी कहना निश्चय और मनुष्य, देव आदि रूप कहा जाना व्यवहार है।

2. मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना निश्चय और घी के संयोग की अपेक्षा उसे घी का घड़ा कहना व्यवहार है।

3. बोलना, चलना, खाना-पीना आदि को पुद्गल की क्रिया कहना निश्चय है और जीव के भावों के निमित्त की अपेक्षा उन्हें जीव के कहना व्यवहार है। जैसे -

(अ) आत्मा को मनुष्य, देवादिरूप अथवा शरीर को पञ्चेन्द्रिय जीवरूप कहना - यह जीव और शरीर को मिलाकर किया गया कथन होने से व्यवहार का कथन है।

(ब) आत्मा को गोरा-काला, दुबला-मोटा, सुन्दर-कुरूप आदि कहना- यह स्व-पर के भावों को मिलाकर किया गया कथन होने से व्यवहारनय का कथन है।

(स) पुस्तक चश्मा प्रकाश तथा नेत्रादि से ज्ञान की उत्पत्ति कहना तथा खाने-पीने, बोलने-चलने आदि शरीर की क्रिया का कर्त्ता आत्मा को कहना - यह स्व-पर के कारण-कार्यादि को किसी को मिलाकर किया गया कथन होने से व्यवहारनय का कथन है।

उक्त तीनों कथनों का निषेध करके आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न कहना अपने-अपने भावों का कर्त्ता कहना निश्चयनय का कथन है।

विशेष धयान देने योग्य बात यह है कि पण्डित टोडरमलजी ने व्यवहारनय के बारे में लिखा है - ' ऐसे ही श्रद्धान से मिथ्यात्व है इसलिए इसका त्याग करना ' तथा निश्चयनय के बारे में लिखा है ' ऐसे ही श्रद्धान से सम्यक्त्व है इसलिए इसका श्रद्धान करना ।'

अत: यह स्पष्ट है कि स्वद्रव्य-परद्रव्य को उनके भावों व कार्य-कारणादिक

को मिलाकर निरूपण करना व्यवहारनय है और उन्हें मिला हुआ मान लेना मिथ्यात्व है। अर्थात् व्यवहारनय की पद्धति से कथन करने में मिथ्यात्व नहीं है, विपरीत मान्यता में मिथ्यात्व है और विपरीत मान्यता में व्यवहारनय नहीं है, मात्र संयोगादि की अपेक्षा निरूपण करने में व्यवहारनय होता है।

प्रश्न :- स्वद्रव्य-परद्रव्यादिक को मिलाकर कहने में मिथ्यात्व नहीं है वैसा मानने में मिथ्यात्व है - अर्थात् कहने में व्यवहार और मानने में मिथ्यात्व - ऐसी विसंगति क्यों हैं ?

उत्तर :- मान्यता का विषय तो वस्तु-स्वरूप है। अत: स्वद्रव्य-परद्रव्य भिन्न-भिन्न होने पर भी उन्हें एक मानना वस्तु-स्वरूप का विपरीत श्रद्धान होने से मिथ्यात्व हुआ। स्वद्रव्य-परद्रव्य को मिलाकर कहने के बावजूद भी वैसा माना नहीं जाता; अपितु संयोग, तथा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का ज्ञान करने के प्रयोजन से उन्हें मिलाकर कहा जाता है ; अत: ऐसा कहने में व्यवहारनय घटित होता है।

प्रश्न :- जब दो द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं तो मिलाकर कहने का प्रयोजन क्या है ? तथा मिला हुआ नहीं मानने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर :- कथन का प्रयोजन लोक-व्यवहार चलाना होता है, आत्मानुभूति करना नहीं है इसलिए कथन करना व्यवहार है, मान्यता से लोक व्यवहार सीधा प्रभावित नहीं होता, अपितु हमारी अनुभूति प्रभावित होती है। अत: दो द्रव्यों को एक मानना मिथ्या है जो अनन्त संसार का कारण है, और उन्हें भिन्न जानना सम्यक् है जो कि मुक्ति कारण है।

प्रश्न :- यदि व्यवहारनय कथन में ही है, मान्यता में नहीं तो निश्चयनय के कथन होते हैं या नहीं और व्यवहारनय के बारे में मान्यता होती है या नहीं ?

उत्तर :- पाण्डे राजमलजी पाँचवे कलश की टीका में कहते हैं कि जो कुछ कथन मात्र है सो व्यवहार है। परन्तु यह बात अभेद निर्विकल्पवस्तु और

उसकी निर्विकल्प अनुभूति के बारे में है। अभेद में भेद किए बिना उसका कथन नहीं हो सकता, अत: अभेद वस्तु में भेद करके जानना और कहना व्यवहार हो जाता है। इसका यह आशय नहीं है कि निश्चयनय के कथन होते ही नहीं। ' यथार्थ निरूपण सो निश्चय और स्वाश्रितो निश्चय:' इन परिभाषाओं में तो निरूपण में ही निश्चयनय घटित किया गया है।

इसीप्रकार मान्तयता में केवल निश्चय होता है - ऐसा नहीं है। वास्तव में मान्यता तो मिथ्या या सम्यक् होती है ; निश्चय-व्यवहाररूप नहीं, क्योंकि मान्यता प्रतीति या श्रद्धानरूप होती है, इसीलिए वह निर्विकल्प होती है। निश्चय-व्यवहार श्रुतज्ञान के भेद हैं ; अत: ये वस्तु को जानने में या वाणी द्वारा कहने में घटित होते हैं। फिर भी अनेक जगह मानने और जानने में भेद न करके ' जानने के अर्थ में ' मानना या श्रद्धान शब्द का प्रयोग भी कर दिया जाता है। पण्डित टोडरमलजी उभयाभासी प्रकरण में लिखते हैं निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है ; क्योंकि एक ही नय का श्रद्धान करने से मिथ्यात्व होता है।

वस्तुत: व्यवहारनय के कथन को वस्तु का सच्चा स्वरूप न जानकर संयोगादि की अपेक्षा किया गया कथन जानना यथार्थ अर्थात् निश्चय है। अर्थात् संयोग को संयोग जानना, विकार को विकार जानना, भेद को भेद जानना तथा वस्तु को अभेद अखण्ड निर्विकल्प रूप में जानना यथार्थ निरूपण होने से निश्चयनय है और असंयोगी अविकारी अभेद वस्तु को संयोगी विकारी और भेदरूप जानना/कहना व्यवहार है।

इसप्रकार यथार्थ निरूपण सो निश्चय और उपचार निरूपण सो व्यवहार है - इस परिभाषा को विस्तार और गहराई से समझना चाहिए।

यथार्थ निरूपण सो निश्चय और उपचार निरूपण सो व्यवहार इस परिभाषा में सर्वाधिक मार्मिक सन्देश यह है कि किसी द्रव्य-भाव का नाम निश्चय

और किसी द्रव्य-भाव का नाम व्यवहार ऐसा नहीं है।

अर्थात् निश्चय-व्यवहार नयों का मूल सूत्र यह है कि ' वस्तु एक निरूपण दो ' दो द्रव्यों को या उनके गुणों को या पर्यायों को किसी को निश्चय और किसी को व्यवहार नहीं कहा जाता। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए पण्डितजी लिखते हैं - एक ही द्रव्य के भाव का उस स्वरूप निरूपण करना निश्चयनय है और उसी द्रव्य के भाव का अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप निरूपण करना व्यवहारनय है। इसप्रकार निरूपण की अपेक्षा नय घटित होते हैं।

उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि निश्चय-व्यवहार किसी द्रव्य, गुण या पर्याय का नाम या स्वरूप नहीं है ; अपितु उनके यथार्थ या उपचरित निरूपण की पद्धति है। यहाँ विभिन्न नय प्रयोगों से यही बात स्पष्ट की जा रही है।

नय प्रयोग	गलत मान्यता	सही मान्यता
घी का घड़ा	घी को निश्चय और घड़े को व्यवहार मानना या घड़े को निश्चय और घी को व्यवहार मानना ।	घड़ा मिट्टी का कहना (यथार्थ निरूपण) घी का कहना (उपचरित निरूपण)
मनुष्य जीव	जीव को निश्चय और शरीर को व्यवहार अथवा शरीर को निश्चय और जीव को व्यवहार समझना ।	जीव शरीर से भिन्न चैतन्य स्वरूप है । (यथार्थ निरूपण) मनुष्य देवादिरूप कहा गया है । (उपचरित निरूपण)
पञ्चेन्द्रिय जीव	पाँच इन्द्रियों को निश्चय या व्यवहार समझना ।	शरीर पुद्गल है, (यथार्थ निरूपण) जीव कहना (उपचरित निरूपण)
वीतरागता ही मुक्ति का मार्ग है	वीतराग पर्याय को निश्चय और व्रतशील संयम को व्यवहार मानना ।	मोक्षमार्ग वीतरागभाव (यथार्थ निरूपण) व्रतशील संयम (उपचरित निरूपण)
मुझे बहुत क्रोध आता है ।	मैं (आत्मा) को निश्चय और क्रोध को व्यवहार समझना	क्रोध आत्मा का विकारी परिणाम है । (यथार्थ निरूपण) गाली दी इसलिए क्रोध आया । (उपचरित निरूपण)

इसप्रकार विभिन्न कथनों में यथार्थ व उपचरित निरूपण में निश्चय-व्यवहार घटित करना चाहिए । उपर्युक्त तालिका में दिए गए प्रयोगों के अतिरिक्त **' वस्तु एक निरूपण दो '** इस सूत्र को समझने के लिए निम्न प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है ।

सम्यग्दर्शन

(यथार्थ निरूपण)	(उपचरित निरूपण)
अ.जीव की निर्मल पर्याय है, अत: आत्मा उसका कर्त्ता है ।	कर्म के उपशम क्षयोपशम या क्षय से हुआ है ।
ब.मुक्ति का मार्ग है,	देवायु बन्ध का कारण है ।

शुभाशुभ राग द्वेषादि विकारी भाव

(यथार्थ निरूपण)	(उपचरित निरूपण)
अ.आत्मा स्वयं रागादि का कर्त्ता है,	मोहनीय कर्म के उदय से होता है ।
ब. बन्ध का कारण है	ज्ञानी के शुभभाव पर मोक्षमार्ग का उपचार किया जाता है अत: वह व्यवहार मोक्षमार्ग है ।

प्रश्न :- उक्त तालिका में रागादिभावों का कर्त्ता जीव को कहना यथार्थ निरूपण अर्थात् निश्चय का कथन बताया गया है, जबकि समयसारादि ग्रन्थों में राग का कर्त्ता निश्चय से पुद्गल को कहा गया है ? तो निश्चय से रागादि का कर्त्ता जीव को माना जाए या पुद्गल को ?

उत्तर :- अध्यात्म ग्रन्थों में स्वभाव व विभाव में भेदज्ञान की मुख्यता से रागादिभावों में अचेतनपना होने से तथा पुद्गल कर्म के उदय का निमित्तपना होने से, व बाह्य-पदार्थों के लक्ष्य होने से उन्हें निश्चय से पुद्गल का कहा गया है । परन्तु जहाँ दो द्रव्यों की स्वतन्त्रता बताने का प्रयोजन हो, वहाँ उन्हीं ग्रन्थों में आगम पद्धति को मुख्य करके उसे व्यवहार से पुद्गलकृत कहा गया है तथा उपादान की अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय से जीव का कहा गया है ।

इसप्रकार रागादिभावों में विभिन्न अपेक्षाओं से निम्नानुसार नय प्रयोगों द्वारा वीतरागता का ही पोषण किया गया है ।

रागादि विकारीभाव

अध्यात्म पद्धति	आगम पद्धति
निश्चय से पुद्गल कृत है।	अशुद्ध निश्चयनय से जीवकृत है।
उपचरितसद्भूत व्यवहार से जीवकृत है।	अनुपचरित असद्भूतव्यवहार से कर्मकृत है।
शुद्ध निश्चय नय से ये जीव में हैं ही नहीं	

विशेष :- प्रवचनसार गाथा 189 की टीका में रागादिभाव शुद्धनय से जीव के कहे गए है।

प्रश्न :- अभेद वस्तु में भेद करना व्यवहार कहा गया है, तो क्या भेद को भी घी के घड़े के समान उपचरित मानना चाहिए ?

उत्तर :- यथार्थ निरूपण सो निश्चय और उपचरित निरूपण सो व्यवहार के आधार से किया गया उक्त विवेचन असद्भूत व्यवहार के आधार पर समझना चाहिए। अभेद और भेद की चर्चा सद्भूत व्यवहार के प्रकरण में आती है।

अध्यात्म पद्धति में अभेद-अखण्ड वस्तु की दृष्टि से भेद भी उपचरित या कथन मात्र कहे जाते हैं। पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में अभेद निर्विकल्प वस्तु को स्वद्रव्य तथा भेद को परद्रव्य कहा है। आगम पद्धति से विचार किया जाए तो वस्तु में विद्यमान एक-अनेक, भेद-अभेद आदि सभी धर्म निश्चय से ही हैं।

प्रश्न :- स्वाश्रितो निश्चय: पराश्रितो व्यवहार: यह परिभाषा कब और कैसे घटित होती है ?

उत्तर :- वस्तुत: किसी भी द्रव्य, गुण या पर्याय का उसके स्वरूप से ही कथन करना स्वाश्रित निरूपण है और यही यथार्थ निरूपण अर्थात् निश्चय है तथा उसका अन्य द्रव्य, गुण या पर्याय से निरूपण करना पराश्रित निरूपण अर्थात् व्यवहार है।

यह भी विचित्र तथ्य है कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्य पूर्णत: शुद्ध स्वतन्त्र और अखण्ड है; तथापि उनका निरूपण पराश्रित अर्थात् जीव और पुद्गलों की सापेक्षता से ही किया गया है; जबकि जीव और पुद्गलों की पर्यायें अशुद्ध भी हैं, ये परस्पर संयोगी और पराश्रित हैं, तथापि इनका निरूपण पराश्रित और स्वाश्रित दोनों प्रकार से किया गया है। जीव को चैतन्यगुण से तथा पुद्गल को स्पर्शादिगुणों से बताना उनका स्वाश्रित निरूपण है तथा जीव पुद्गल का परस्पर संयोगी कथन करना पराश्रित निरूपण है।

अध्यात्म पद्धति में वस्तु के अभेद निर्विकल्प द्रव्यांश को **'स्व'** एवं संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन की दृष्टि से उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की भेद कल्पना को **'पर'** कहा जाता है। इसलिए निर्विकल्प वस्तु स्वाश्रित अनुभूति का विषय बनती है तथा भेद से उसका विचार/कथन करना पराश्रित या उपचरित कहा जाता है।

निश्चय-व्यवहार की भूतार्थता और अभूतार्थता :-

प्रश्न :-जब वस्तु स्वरूप को समझने में दोनों नयों की समान उपयोगिता है तो समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों में निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ क्यों कहा गया है ?

उत्तर :- निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मतत्त्व के आश्रय अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-आचरण से मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि होती है, इसलिए निश्चय को भूतार्थ कहते हैं तथा व्यवहारनय के विषयभूत आत्मा के अवलम्बन से मोक्षमार्ग के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, इसलिए व्यवहारनय को अभूतार्थ कहते हैं।

भूतार्थ का अर्थ विद्यमान और अभूतार्थ का अर्थ अविद्यमान भी होता है। निश्चयनय के विषयभूत आत्मा में अथवा त्रिकाली स्वभाव की

दृष्टि में रंग-राग-भेद अविद्यमान हैं, इसलिए उन्हें विषय बनाने वाला व्यवहारनय अभूतार्थ कहा जाता है।

प्रश्न :- क्या व्यवहारनय सर्वथा अभूतार्थ है ?

उत्तर :- नहीं, शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय की अपेक्षा अथवा मोक्षमार्ग की अपेक्षा व्यवहारनय को अभूतार्थ/असत्यार्थ कहा गया है। अत: वह कथञ्चित् अभूतार्थ है, सर्वथा अभूतार्थ नहीं। व्यवहारनय की विषयभूत पर्यायें, शरीरादि संयोग भी विद्यमान हैं, उनका सर्वथा लोप नहीं है; अत: व्यवहारनय भी कथञ्चित् सत्यार्थ है। यदि उसे कहीं दृष्टि की अपेक्षा सर्वथा असत्यार्थ भी कहा हो तो यह कथन भी अपेक्षा सहित होने से कथञ्चित् ही समझना चाहिए, सर्वथा नहीं।

समयसार गाथा 14 की टीका में पाँच बोलों द्वारा आत्मा का स्वरूप समझाते हुए व्यवहारनय को पाँच उदाहरणों में कथञ्चित् सत्यार्थ बताया है तथा उसे परमार्थ दृष्टि से अभूतार्थ कहा है।

आचार्य जयसेन भी समयसार की 11वीं गाथा के द्वितीय व्याख्यान में व्यवहार को अभूतार्थ और भूतार्थ भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेवश्री ने समयसार की 11वीं गाथा के प्रवचनों में विशेष स्पष्टीकरण किया है, जो प्रवचन रत्नाकर भाग पृष्ठ 147-148 पर पठनीय है।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि बहुत से लोग पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का साँगोपाँग गहन अध्ययन किये बिना ही उन्हें एकान्ती, स्वच्छन्दी, निश्चयाभासी आदि समझ लेते हैं। यदि वे उनके प्रवचनों का निष्पक्ष दृष्टि से गहन अध्ययन करें तो न केवल उनका भ्रम निकल जाएगा, अपितु वे वस्तु स्वरूप का यथार्थ निर्णय करके मोक्षमार्ग की प्राप्ति का सम्यक् पुरुषार्थ भी कर सकेंगे।

प्रश्न :- व्यवहारनय को सर्वथा सत्यार्थ मानने में क्या हानि है ?

उत्तर :- व्यवहारनय जीव और शरीर को एक करता है, आत्मा को रागादिरूप या गुणस्थान मार्गणास्थान आदि के भेदरूप कहता है। यदि व्यवहारनय को सर्वथा सत्यार्थ माना जाए तो जीव और शरीर को एक कहने

वाले कथन भी सत्यार्थ हो जायेंगे, जिससे मिथ्यात्व का पोषण होने का प्रसंग आएगा।

प्रश्न :- व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ मानने में क्या हानि है ?

उत्तर :- नियमसार गाथा 159 में केवली भगवान द्वारा लोकालोक को जानना व्यवहार नय से कहा गया है। यदि व्यवहार सर्वथा सत्यार्थ माना जाए तो लोकालोक का ज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता भी असत्यार्थ होगी। अत: व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ मानने पर सर्वज्ञता का ही लोप हो जाएगा।

इसप्रकार जीव और देह को एक कहना भी सर्वथा असत्यार्थ माना जाए अर्थात् उन्हें संयोग की अपेक्षा भी एक न माना जाए तो भस्म को मसलने की भाँति जीववों को मसलने से भी हिंसा का अभाव हो जाएगा। अत: व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानने पर हिंसा के पोषण का प्रसंग भी आएगा।

प्रश्न :- लोकालोक को जानना व्यवहारनय से कहने का क्या आशय है ?

उत्तर :- वास्तव में केवली भगवान जैसे अपने आत्मा को अपनेपन सहित अर्थात् तन्मय होकर जानते हैं ; वैसे लोकालोक को तन्मयता पूर्वक नहीं जानते, इसलिए लोकालोक को जानना व्यवहार कहा गया है। इसका यह आशय नहीं है कि भगवान के ज्ञान में लोकालोक सम्बन्धी ज्ञेयाकार परिणमन ही नहीं होता।

वस्तुत: ज्ञेयाकार परिणमन भी ज्ञान का ही परिणमन है; ज्ञेयों का नहीं। इसलिए ज्ञेयाकार परिणमन वास्तव में आत्मा ही होने से वह आत्मा को ही प्रकाशित करता है, इस अपेक्षा से ज्ञान में स्वयं ज्ञान अर्थात् आत्मा ही प्रकाशित होने से केवलज्ञान अपने को प्रकाशित करता है - यह कथन ज्ञान का स्वाश्रित निरूपण होने से निश्चयनय का है। कहा भी है - **' ज्ञेयाकार ज्ञान में भी कलाकार ज्ञान है '** अथवा **' तुम्हारा चित् प्रकाश कैवल्य, कहें तुम ज्ञायक लोकालोक'** ज्ञान में बनते हुए ज्ञेयाकार प्रतिबिम्ब को ज्ञान में ज्ञेय का

उपचार करना ही है । अत: यह ज्ञान का पराश्रित निरूपण होने से उपचरित कथन हुआ कि - **'ज्ञान लोकालोक को जानता है ।'**

यदि ज्ञान में ज्ञेय झलकें ही नहीं अर्थात् ज्ञेयाकार परिणमन ही न हो तो लोकालोक का आरोप किस पर किया जाएगा ? अत: ज्ञान का विशेष परिणमन तो यथार्थ ही है, उसे ज्ञेय कहकर ज्ञान में लोकालोक झलकता है - ऐसा कहना उपचार है ।

3. निश्चय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक और निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध :-

आत्मानुभूति के प्रयोजन से निश्चय को भूतार्थ और व्यवहार को अभूतार्थ कहने से यह प्रश्न सहज उत्पन्न होता है कि यदि व्यवहार अभूतार्थ /असत्यार्थ है तो जिनागम में उसका कथन क्यों किया गया है ? दो अत्यन्त भिन्न वस्तुओं को एक कहकर उनमें अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करना, एक अखण्ड वस्तु में भेद कल्पना करना तथा व्रतादिरूप बाह्यक्रिया एवं शुभ भाव को मोक्षमार्ग कहना तो आगम विरूद्ध लगता है तो फिर जिनागम में ऐसे कथन क्यों किये गए और उन्हें व्यवहारनय कहकर जिनागम में स्थान क्यों दिया गया ?,

पण्डित टोडरमलजी ने यही प्रश्न उठाया और समाधान के लिए आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार की आठवीं गाथा प्रस्तुत करते हुए कहा है कि जसप्रकार अनार्य को अनार्य भाषा के बिना समझाया नहीं जा सकता; उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का कथन नहीं हो सकता, इसलिए जिनागम में व्यवहार को स्थान दिया है तथा सम्यक् श्रुतज्ञान का अंश कहा गया है ।

इसीप्रकार बारहवीं गाथा की टीका में तीर्थ अर्थात् मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति व्यवहार द्वारा होती है - ऐसा कहकर व्यवहार की उपयोगिता बताई गई है ।
यहाँ व्यवहारनय की उपयोगिता के सन्दर्भ में निम्नलिखित मुख्य 3 बिन्दु समझने योग्य है :-

अ. व्यवहारनय का विषय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, अत: उसका लोप करना निश्चयाभास होगा ।

ब. व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक होने से उसे सर्वथा हेय नहीं मानना चाहिए, अपितु जाना हुआ प्रयोजनवान समझना चाहिए ।

स. व्यवहार का लोप करने से तीर्थ (जिनवाणी/मोक्षमार्ग) का लोप हो जाएगा ।

प्रश्न :- परस्पर विरोधी कथन करनेवाले निश्चय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? अभेद वस्तु में गुण-पर्याय का भेद करनेवाला व्यवहार भेद का निषेध करनेवाले परमार्थ का प्रतिपादन कैसे कर सकता है ? इसीप्रकार देह और जीव को एक कहनेवाला व्यवहार उन्हें अत्यन्त भिन्न कहनेवाले परमार्थ का प्रतिपादन कैसे कर सकता है ? तथा शुभभाव को मुक्ति का कारण कहनेवाला व्यवहार उसे बन्ध का कारण कहनेवाले परमार्थ का प्रतिपादक कैसे हो सकता है ?

उत्तर :- निश्चय-व्यवहार में परस्पर विरोध दिखाई देता है, इसलिए उनमें विरोध उनमें प्रतिपाद्य-प्रतिपादकपना समझ में नहीं आता, अत: सर्वप्रथम उनमें विरोध है या अविरोध ? यह समझना अत्यन्त आवश्यक है ।

वस्तुत: निश्चय और व्यवहार की कथन शैली में विरोध होने पर भी दोनों नय अपनी-अपनी अपेक्षा से एक ही वस्तु के दोनों पक्षों का ज्ञान कराते हैं, इसलिए उनमें 36 जैसा विराध न होकर 63 जैसा विरोध समझना चाहिए अर्थात् दोनों नय वस्तुस्वरूप का निर्णय करने की प्रक्रिया के अंग हैं ।

निश्चय-व्यवहार के प्रयोगों में निम्न चार बिन्दु पाए जाते है :-

अ. प्रतिपादक वाक्य **ब.** प्रतिपाद्य बिन्दु

स. प्रतिपादन की अपेक्षा सनदर्भ **द.** प्रतिपादन का प्रयोजन

प्रतिपादक वाक्य :- इससे आशय जिनागम में उपलब्ध कथनों से है ।

सम्पूर्ण जिनागम में वस्तुस्वरूप अथवा मोक्षमार्ग का कथन किया गया है; अत: समग्र जिनागम ही प्रतिपादक वाक्य है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्मा संसारी है, आत्मा देह से भिन्न है, अत: देहादि की क्रिया का कर्त्ता नहीं है अथवा आत्मा मनुष्य है और वह शरीरादि की क्रिया का कर्त्ता है.....आदि सभी कथन प्रतिपादक वाक्य है; क्योंकि वे किसी अपेक्षा से वस्तुस्वरूप का कथन करते हैं।

ब. प्रतिपाद्य बिन्दु :- विभिन्न प्रकार के कथनो की वाच्यभूत वस्तु ही प्रतिपाद्य बिन्दु है। यह जानना आवश्यक है कि यह बात किसके बारे में कही जा रही है, अन्यथा स्पष्ट निर्णय होने के बजाय संशय और विभ्रम खडे हो जायेंगे।

' घी का घडा' और 'घडे का घी' - ये दोनों कथन व्यवहारनय के हैं, परन्तु इनके प्रतिपाद्य बिन्दुओं में अन्तर है। ' घी का घडा ' कहने का आशय उस घडे से है जिसमें घी रखा है, अर्थात् बात घडे की ही है घी की नहीं, अत: इस कथन का प्रतिपाद्य बिन्दु घडा है; घी नहीं। इसीप्रकार घडे का घी कने का आशय उस घी से है, जो घडे में रखा है अर्थात् बात घी की है घडे की नहीं। अत: इस कथन का प्रतिपाद्य बिन्दु घी है; घडा नहीं।

इस उदाहरण में दोनों वाक्य अलग-अलग है ; परन्तु पञ्चेन्द्रिय जीव कहने में शरीर और जीव दोनों ही प्रतिपाद्य बिन्दु हो जाते हैं। जीव को भी शरीर के संयोग की अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीव कहते हैं तथा पाँच इन्द्रिमय यह शरीर पुद्गल होने पर भी जीव के संयोग की अपेक्षा जीव कहा जाता है। अत: यह धयान रखना आवश्यक है कि कब शरीर के संयोग वाले जीव का कथन है और कब जीव का संयोग होने से शरीर को जीव कहा गया है।

स. प्रतिपादन का सन्दर्भ :- निश्चय-व्यवहार के प्रयोगों में यह जानना भी आवश्यक है कि इस कथन द्वारा स्व-पर की एकता अर्थात् स्व-स्वामी सम्बन्ध की बात कही जा रही है या उनमें कर्त्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य या ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्ध की बात कही जा रही है। **' मैंने क्रोध किया '** इस कथन में आत्मा को

क्रोध का कर्त्ता कहा गया है। **' मैं क्रोध से दुखी हुआ'** इस कथन में आत्मा को क्रोध का भोक्ता कहा गंया है।

क्रोध परिणाम स्वये में निश्चय-व्यवहार कुछ नहीं है ; परन्तु जब उसका जीव या पुद्गल के साथ एकत्व कर्तृत्व या भोक्तृत्व बताया जाए तब उसमें यथार्थ या उपचरित निरूपण की अपेक्षा निश्चय-व्यवहार घटित होंगे। पण्डित टोडरमलजी ने 'व्रत शील संयम' को व्यवहार कहने का तो निषेध किया है ; क्योंकि किसी को निश्चय और किसी को व्यवहार कहना ठीक नहीं, परन्तु जब मोक्षमार्ग की बात आई तो 'व्रत शील संयम' को व्यवहार से मोक्षमार्ग प्ररूपित किया,अर्थात् 'व्रत शील संयम' को मोक्षमार्ग कहना व्यवहार है - ऐसा कहा है।

द. प्रतिपादन का प्रयोजन :- किसी भी अपेक्षा वस्तु का निरूपण किया जाए उसमें भेदज्ञान और वीतरागता के प्रयोजन की सिद्धि किसप्रकार हो रही है - यह जानना भी अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा यथार्थ तत्त्वनिर्णय और सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ नहीं हो पाएगा।

' घी का घड़ा ' कहने का प्रयोजन घड़े में रखे हुए घी का ज्ञान कराना है। इसी प्रकार 'व्रत शील संयम' को मोक्षमार्ग कहने का प्रयोजन ' मोक्षमार्ग के निमित्त व सहचारी है ' - ऐसा ज्ञान कराना है न कि इन्हें मोक्षमार्ग मानना। 'व्रत शील संयम' को बन्ध के कारण कहने का प्रयोजन इन्हें वास्तविक मोक्षमार्ग न मानकर वीतरागता को वास्तविक मोक्षमार्ग बताना है न कि व्रत शील संयम छाड़कर स्वच्छन्द प्रवर्तन करना।

इसप्रकार व्यवहार या निश्चय किसी भी अपेक्षा से किये गए कथनों से आत्महित की पुष्टि करना अभीष्ट है।

निश्चय-व्यवहार के प्रयोगों को गहराई से समझने पर निश्चय-व्यवहार में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध समझना सरल हो जाता है। निश्चयनय को प्रतिपाद्य और व्यवहारनय प्रतिपादक कहने का आशय यह है कि व्यवहारनय के

कथन से निश्चयनय का विषय ही कहा जाता है, अत: व्यवहारनय को ही पारमार्थिक सत्य न मानकर उसके द्वारा कहे गए परमार्थ को ही समझना चाहिए, अन्यथा व्यवहाराभास का प्रसंग आएगा।

प्रश्न :- कहें कुछ और समझें कुछ - ऐसा कैसे सम्भव है ? जैसा कहेंगे वैसा ही तो समझना पडेगा ?

उत्तर :- भाई ! हमारे दैनिक जीवन में भी ऐसे हमारों प्रसंग बनते हैं जब हम मात्र शब्दानुसार अर्थ न समझकर उसका भाव ग्रहण करते हैं, अन्यथा हम लोक व्यवहार में भी मूर्ख समझे जायेंगे। इस आशय के कुछ प्रयोग निम्नानुसार हैं :-

व्यवहार-कथन	समझा गया आशय
अ. आदमी देख कर कचरा फेकना	जब आदमी न हो तब कचरा फेकना
ब. सिर दर्द की दवा लाना	सिर दर्द मिटाने की दवा लाना
स. आपका ही घर है कोई संकोच न करें।	घर आपका नहीं है परन्तु आप नि:संकोच यहाँ ठहरें।
द. यह दवा अम्मा को हिलाकर पिला देना	अम्मा को नहीं हिलाना है, दवा को हिलाना है।
इ. बेटा ! जरा मम्मी को बुलाना।	बेटा ! अपनी मम्मी को बुलाना।
ई. यह पेटी बहुत कीमती है इसे सम्भाल कर ले जाना।	इस पेटी में रखा हुआ माल बहुत कीमती है उसे सम्भालना है।

इसप्रकार हमारे लोक जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग बनते हैं जब हम सामने वाले के कथनों को शब्दानुसार ग्रहण न करके उसका भाव ग्रहण करते है। इससे स्पष्ट होता है कि अपने भावों को व्यक्त करने हेतु किए गए कथन व्यवहारनय हैं और उनके माध्यम से समझा गया भाव परमार्थ और निश्चयनय है।

यही पद्धति जिनवाणी का आशय समझने में भी अपनाई जाती है अन्यथा

हम जिनवाणी का अर्थ नहीं समझ पायेंगे और यह मनुष्य भव व्यर्थ चला जाएगा।

मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 252 पर व्यवहार द्वारा परमार्थ को समझने के निम्नलिखित तीन प्रयोग बताए गए है :-

व्यवहार - कथन	पारमार्थिक आशय
अ. जीव मनुष्य, देव नारकी या तिर्यञ्च आदि है।	मनुष्य,देव नारकी तिर्यञ्च आदि शरीर के संयोग में रहने वाली चेतनसत्ता ही जीव है।
ब. आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र हैं।	आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणों का अखण्ड पिन्ड है।
स. व्रतशील संयमादि मोक्षमार्ग हैं।	व्रतादि के साथ रहनेवाला वीतराग भाव मोक्षमार्ग है।

इस प्रकार जिनागम के हजारों व्यवहार-कथनों का पारमार्थिक आशय ग्रहण करना चाहिए। कुछ प्रयोग निम्नानुसार हैं।

1. मैं व्यापार करता हूँ	मैं व्यापार करने का राग करता हूँ बाह्य क्रिया नहीं।
2. मैंने रात्रि भोजन का त्याग कर दिया।	मैंने रात्रिभोजन सम्बन्धी राग का त्याग किया है।
3. भरत चक्रवर्ती ने छह खण्ड का राज्य का राग छोड़कर दीक्षा ले ली।	भरत चक्रवर्ती ने छह खण्ड की विभूति छोड़कर दीक्षा ले ली।
4. ऋषभदेव मुनिराज ने चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्रगट किया।	ऋषभदेव मुनिराज ने आत्मा में विशेष लीनता द्वारा केवलज्ञान प्रगट किया। उस समय घातिया कर्मों का क्षय भी स्वयं हो गया।

इसप्रकार जिनागम के सभी व्यवहार कथनों में कोई न कोई पारमार्थिक आशय छिपा रहता है, अत: व्यवहारनय प्रतिपादक है और उसका यथार्थ आशय अर्थात् निश्चयनय प्रतिपाद्य है।

व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध :-

व्यवहारनय स्वयं परमार्थ नहीं हैं ऐसा जानना ही व्यवहार का निषेध है। यह बात समझने के लिए व्यवहार की निम्न तीन विशेषतायें ध्यान देने योग्य है।

अ. व्यवहारनय स्वयं परमार्थ नहीं है।

ब. व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है।

स. व्यवहारनय अन्यत्र भटकने से बचाता है।

यदि हम मुम्बई जाने वाले मार्ग पर यात्रा कर रहे हैं और रास्ते में एक चौराहे पर बोर्ड पर लिखा है मुम्बई 100 कि.मी.। तो उक्त तीन बातें उस पर निम्नानुसार घटित होगी।

अ. जिस बोर्ड पर मुम्बई लिखा है वह बोर्ड स्वयं मुम्बई नहीं है।

ब. वह मुम्बई की दिशा और दूरी का ज्ञान कराता है।

स. उस दिशा में जाने से शेष तीन दिशाओं में जाना बच जाता है।

सच्चे देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा को व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहा गया हैं। उसमें उक्त तीन बिन्दु निम्नानुसार घटित होंगे।

अ. देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा स्वयं सम्यक्त्व नहीं है।

ब. शुद्धात्मा की श्रद्धारूप निश्चय सम्यक्त्व की सहचारी होने से निश्चय सम्यक्त्व का ज्ञान कराती है।

स. अन्य कुगुरु-कुदेव की श्रद्धा मिथ्यात्व पोषक है अत: उनसे हमें बचाती है।

निश्चयनय निषेधक है और व्यवहारनय निषेध्य है यह बात समयसार कलश 173 और गाथा 272 आदि अनेक स्थानों पर स्पष्ट कही गई है। परन्तु

दोनों नयों का अर्थ करने की पद्धति न जानने से समाज में यह भ्रम व्याप्त हो गया है कि व्यवहार निषेध्य है.अर्थात् पूजा-पाठ, व्रत शील संयमादिरूप शुभभाव अथवा ये क्रियायें छोड देना चाहिए। अध्यात्म से अरुचि रखने वाले लोगों द्वारा भी जान बूझकर समाज को गुमराह किया जाता है कि ये शुद्धात्मा के गीत गाने वाले लोग पूजा-पाठ, व्रत शील संयमादि छुडाकर 'खाओ-पियो मौज करो' वाला सस्ता धर्म बता रहे है।

इस सम्बन्ध में मोक्षमार्ग प्रकाशक के उभयाभासी प्रकरण में बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है "कुछ व्रत शीलादि तो व्यवहार है नहीं इन्हें मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है सो उसे छोड दे .....।

व्यवहार का ग्रहण एवं त्याग करने की प्रक्रिया :-

इस सम्बन्ध में पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ 251 पर लिखते हैं :-

यहाँ प्रश्न हैं कि यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, सो कैसे ?

समाधान :- जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है'- ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे 'ऐसे है नहीं, निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है' - ऐसा जानता। इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। तथा दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर 'ऐसे भी है, ऐसे भी है' - इसप्रकार भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंका ग्रहण करना नहीं कहा है।

व्यवहार का निषेध करने की आड में व्रत शीलादि छोड देने के बारे में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं :-

"यहाँ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे कि तुम व्यवहारको असत्यार्थ-हेय कहते हो; तो हम व्रत,शील,संयमादिक व्यवहारकार्य किसलिये करें ? - सबको छोड़ देंगे।

उससे कहते हैं कि कुछ व्रत,शील, संयमादिकका नाम व्यवहार नहीं है ; इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है , उसे छोड दे ; और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जानकर उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है, यह तो परद्रव्याश्रित हैं ; तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है। इसप्रकार व्यवहारको असत्यार्थ -हेय जानना । **व्रतादिकको छोडनेसे तो व्यवहारका हेयपना होता नहीं है ।**

फिर हम पूँछते हैं कि व्रतादिकको छोड़कर क्या करेगा ? यदिं हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्गका उपचार भी सम्भव नहीं है ; वहाँ प्रवर्तनेसे क्या भला होगा ? नरकादि प्राप्त करेगा । इसलिये ऐसा करना तो निर्विचारीपना है। तथा व्रतादिकरूप परिणतिको मिटाकर केवल वीतराग उदासीनभावरूप होना बने तो अच्छा ही है ; वह निचलीदिशामें हो नहीं सकता; इसीलिये **व्रतादि साधन छोड़कर स्वच्छन्द होना योग्य नहीं है** । इसप्रकार श्रद्धानमें निश्चयको, प्रवृत्तिमें व्यवहारको उपादेय मानना वह भी मिथ्याभाव ही है ।"

इस कथन से यह स्पष्ट है कि व्यवहार का ग्रहण -त्याग ज्ञान में ही होता है । क्रिया न तो स्वयं व्यवहार है और न ही उसका व्यवहार के ग्रहण-त्याग से इसका कोई सम्बन्ध है ।

व्यवहार के द्वारा परमार्थ को जानना - यही व्यवहार का ग्रहण है और व्यवहार को परमार्थ नहीं मानना - यही व्यवहार का निषेध है । अद्भुत बात तो यह है कि ये दोनों प्रक्रियायें एक ही ज्ञान पर्याय में एक साथ सम्पन्न होती है। घी के घडे के उदाहरण में यह बात इसप्रकार समझी जा सकती है :-

घी का घड़ा कहकर घी के संयोग वाले घड़े को जानना - व्यवहार का ग्रहण हो गया । उसी समय हम यह भी जानते हैं कि घड़ा घी का नहीं मिट्टी का है - ऐसा जानना ही व्यवहार का निषेध या त्याग है ।

जरा सोचिये ! यहाँ घड़ा घी का नहीं है मात्र ऐसा जाना गया है । इसके

लिए हम क्रिया में क्या करते हैं ? क्या हम घड़े में घी रखना बन्द कर देते हैं या घड़े को फोड देते है ? क्रिया तो जैसी आवश्यकता हो वैसी होती है। मात्र ज्ञान में समझ लिया कि यह घड़ा घी का नहीं है - बस यही व्यवहार का त्याग हो गया ।

इसीप्रकार व्रतशील संयमादि के माध्यम से वीतराग भावरूप निश्चय मोक्षमार्ग को समझना - अथवा व्रतादि को मोक्षमार्ग कहना - व्यवहार का ग्रहण हुआ और ये शुभभाव मोक्षमार्ग नहीं है वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है - ऐसा जानना- ही व्यवहार का त्याग या निषेध हो गया ।

इसीप्रकार मनुष्यजीव कहकर मनुष्य शरीर के संयोग में रहने वाले जीव को जानना- व्यवहार का ग्रहण है तथा जीव मनुष्य शरीर रूप नहीं है वह तो शरीर से भिन्न है - ऐसा जानना व्यवहार का निषेध है ।

उक्त विवेचन से व्यवहार और निश्चय में निषेध्य-निषेधक सम्बन्ध का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

प्रश्न :- जब व्यवहारनय निश्चय का प्रतिपादन करता है तो उसका निषेध करने की आवश्यकता ही क्या है ? यदि निषेध न करें तो क्या हानि है ?

उत्तर :- भाई ! व्यवहार के निषेध में ही उसकी सार्थकता और सफलता है । जिस प्रकार पेकिंग अपने में छिपी वस्तु को बचाती है और सुरक्षित रखती है, फिर उस वस्तु को पाने के लिए पेकिंग को तोडना ही पड़ता है; उसीप्रकार व्यवहार को परमार्थ न मानकर ही परमार्थ को पाया जा सकता है ।

यदि हम पेकिंग को ही माल (मूल वस्तु) समझ लेंगे, या उसकी चमक-दमक में ही संतुष्ट हो जायेंगे तो माल को पाने के लिए प्रयत्न ही क्यों करेंगे ? इसीप्रकार जो मनुष्य शरीर को ही जीव मानेगा वह देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करने का प्रयत्न क्यों और कैसे करेगा ?

जरा सोचिये! आत्मा को गुणस्थान मार्गणास्थानरूप मानते-मानते क्या त्रिकाली चैतन्य स्वभाव में अपनापन किया जा सकता है अर्थात् शुद्धात्मा की

अनुभूति की जा सकती है ? क्या व्रत-शील संयमादि को मोक्षमार्ग मानते हुए राग रहित ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा का अनुभव किया जा सकता है ? नहीं। अत: शुद्धात्मा का अनुभव करने के लिए देहादि में एकत्व बुद्धि तोड़ना होगा। यही मिथ्यात्व का निषेध है और यही व्यवहार का निषेध भी है क्योंकि व्यवहारनय जैसा कहता है, वस्तु स्वरूप वैसा ही मानने पर मिथ्यात्व होता है। और व्यवहारनय के कथनों को मात्र प्रयोजनवश किए गए उपचरित कथन समझकर, परमार्थ न मानकर ही शुद्धात्मा की प्राप्ति अर्थात् आत्मानुभूति अथवा निश्चय-मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

वास्तव में हम बाह्य क्रिया-काण्ड को ही व्यवहार समझते हैं, इसलिए व्यवहार का निषेध सुनकर हमें व्रतादि छोडकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति के समर्थन की शंका होने लगती है। परन्तु जब हम यह समझ लेंगे कि व्यवहार का ग्रहण-त्याग ज्ञान में ही होता है क्रिया में नहीं, तब हम निशंक होकर यथार्थ तत्त्व निर्णय कर सकेंगे।

प्रश्न :- निचली भूमिका में व्यवहार को ग्रहण करना चाहिए फिर बाद में उसका त्याग करना चाहिए - ऐसा मानें तो क्या हानि है ?

उत्तर :- भाई ! ग्रहण करना और उसका त्याग करना तो कथन की विधि-निषेध रूप पद्धतियाँ है ! व्यवहारनय के विषय की सत्ता को स्वीकार करना अथवा उसके माध्यम से परमार्थ को समझना - यही व्यवहार का ग्रहण है और उसी समय व्यवहार स्वयं परमार्थ नहीं है - ऐसा जानना ही व्यवहार का त्याग है। अत: ज्ञानी के ज्ञान में व्यवहार का ग्रहण त्याग एक साथ वर्तता है, क्योंकि ज्ञानी न तो व्यवहार का सर्वथा निषेध करते है और न उसे परमार्थ मानते है।

प्रश्न :- समयसार की बारहवीं गाथा में व्यवहार को निचली भूमिका में जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है ? इस कथन का क्या आशय है ?

उत्तर :- जाना हुआ प्रयोजनवान का आशय भी यही है कि संयोग और संयोगी भावों की यथार्थ स्थिति समझी जाए, परन्तु उन्हें ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप न मान लिया जाए। यदि व्यवहारनय के विषय को जानेंगे ही नहीं तो उसका यथायोग्य ग्रहण-त्याग कैसे करेंगे ? अत: व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है।

प्रश्न :- ऐसा भी देखा जाता है कि कोई कथन व्यवहारनय का भी है और वही बात निश्चय से भी कही जाती है। तब प्रतिपाद्य-प्रतिपादक या निषेध्य-निषेधक का निर्णय कैसे करें ? आत्मा अपने रागादि भावों का कर्त्ता-भोक्ता है - इस कथन में इसे घटित करके समझायें ?

उत्तर :- जब संयोग संयोगी भाव या भेद के कथन द्वारा असंयोगी तत्त्व को कहा जाए तब वह कथन प्रतिपादक होने से व्यवहारनय का कथन समझना चाहिए और जब किसी कथन के द्वारा संयोग, संयोगीभाव या भेद का निषेध करने का अभिप्राय हो तो वह कथन निश्चयनय का समझना चाहिए।

जैसे :- आत्मा अपने रागादि भाव का कर्त्ता-भोक्ता है - ऐसा कहकर शरीरादि पर पदार्थों के कर्त्तापने का निषेध करना हो तो यह कथन निश्चयनय का माना जाएगा। और जब इसी कथन के द्वारा आत्मा में कर्त्ता-कर्म के भेद के माध्यम से आत्मा का स्वरूप बताना हो अथवा आत्मा रागादि सम्बन्धी अपने ज्ञान का कर्त्ता है - यह बताना अभीष्ट हो तब यह कथन व्यवहारनय का समझना चाहिए। इसीलिए तो कहा है - **वक्तुरभिप्रायो नय:** अर्थात् वक्ता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जो प्रतिपादन करे - वही व्यवहार है और जिसका प्रतिपादन किया जाए- वही निश्चय है। अथवा जो निषेध करे वह निश्चय है और जिसका निषेध किया जाए - वही व्यवहार है। निम्नलिखित प्रयोगों द्वारा उक्त कथन का आशय स्पष्ट किया जा रहा है :-

प्रतिपादक वाक्य	प्रतिपाद्य आशय
1. जीव घट-पटादि बाह्य पदार्थों का कर्त्ता है।	1. जीव घट-पटादि के लक्ष्य से होने वाले रागादि भावों का कर्त्ता है।
2. जीव अपने कर्मोदय के अनुसार होने वाले सुख दु:ख का भोक्ता है।	2. जीव कर्मोदय के निमित्त से होने वाले रागादि के अनुसार सुखी दु:खी होता है।
3. जीव अपने रागादि भावों का कर्त्ता है।	3. स्वभाव दृष्टि से आत्मा रागादि का कर्त्ता नहीं है। वह अपनी निर्मल पर्यायों का कर्त्ता है।
4. आत्मा अपनी निर्मल पर्यायों का कर्त्ता है।	4. आत्मा में कर्त्ता-कर्म आदि भेद व्यवहार से किए जाते हैं। आत्मा अखण्ड अभेद एक चैतन्य मात्र वस्तु है।

इन्ही वाक्य प्रयोगों को निषेध्य-निषेधक की दृष्टि से निम्नानुसार समझना चाहिए।

निषेध्य	निषेधक
1. हमारे विकल्पों या वर्तमान पुरुषार्थ से बाह्य संयोगों में परिवर्तन होता है।	1. सब जीवों का जीवन मरण सुख दुख उनके कर्मोदय के अनुसार होता है।
2. आत्मा जड कर्मो का कर्त्ता-भोक्ता है।	2. आत्मा अपने भावों का ही कर्त्ता-भोक्ता है।
3. आत्मा रागादि का कर्त्ता-भोक्ता है।	3. आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन आदि निर्मल पर्यायों का कर्त्ता है।
4. आत्मा कर्म है और उसकी पर्यायें कर्म है।	4. आत्मा कर्त्ता-कर्म के भेद से रहित अभेद वस्तु है।

इसप्रकार प्रतिपाद्य-प्रतिपादक और निषेध्य-निषेधक भी ज्ञान में होते हैं ,क्रिया में नहीं, क्योंकि नयों का प्रयोजन वस्तु स्वरूप को समझकर यथार्थ निर्णय करना है और निर्णय ज्ञान में ही होता है, अत: वह ज्ञान की ही क्रिया है, बाह्य क्रिया नहीं।

5. व्यवहार और निश्चय की हेयोपादेयता :-

समयसार की 11वीं गाथा में व्यवहार को अभूतार्थ कहकर हेय कहा है तथा निश्चय को भूतार्थ कहकर उसे आश्रय करने योग्य बताया है। यहां निश्चय अर्थात् निश्चयनय का विषयभूत त्रिकाली शुद्धात्मा समझना चाहिए तथा व्यवहार से आशय संयोग, विकार और भेद समझना चाहिए। क्योंकि यह ग्रन्थ आचार्यदेव ने शुद्धात्मा का स्वरूप बताने के लिए ही लिखा है।

अन्यत्र भी व्यवहार को परमार्थ नहीं मानना- यही उसका हेयपना है, तथा निश्चयनय के कथन को सत्यार्थ जानना ही उसका उपादेयपना है। निषेध्य अर्थात् हेय तथा प्रतिपाद्य अर्थात् उपादेय। प्रतिपाद्य-प्रतिपादक और निषेध्य-निषेधक के अनुसार ही हेय-उपादेय का स्वरूप जानना चाहिए।

प्रश्न :- व्यवहार को कथञ्चित् हेय और कथञ्चित् उपादेय कहने का आशय स्पष्ट कीजिए ?

उत्तर :- व्यवहारनय के विषय का सर्वथा निषेध नहीं करना चाहिए। उसकी सत्ता स्वीकार करना चाहिए - इस अपेक्षा व्यवहार को उपादेय कहा गया है। तथा व्यवहार नय के कथनों को उपचार मात्र समझना, परमार्थ नहीं मानना - इस उपेक्षा उसे हेय कहा जाता है।

प्रश्न :- शुभभावों को भी कथञ्चित् हेय और कथञ्चित् उपादेय कहा जाता है ? क्या यही व्यवहार का हेयोपादेयपना है ?

उत्तर :- शुभभाव मोक्षमार्ग में निमित्त हैं, अत: पापों से बचने केलिए और वीतरागता के पोषण केलिए उन्हें कथञ्चित् उपादेय भी कहा गया है और

वे पुण्य बन्ध के कारण है, अत: उन्हें हेय कहा गया है। इसप्रकार ज्ञान में उनके हेय-उपादेयपने का निर्णय एक साथ वर्तता है। उन्हें हेय कहना निश्चयनय है तथा उपादेय कहना व्यवहारनय है, और हेय जानना व्यवहार का त्याग है। इसप्रकार शुभभावों के सन्दर्भ में भी व्यवहारनय का ग्रहण-त्याग एक साथ होता है।

आचरण की अपेक्षा विचार किया जाए तो चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में तारतम्यरूप से शुभभाव की अधिकता होती है तथा सातवें गुणस्थान से शुद्धता की अधिकता होती है। इसलिए यह भी कहा जाता है कि पहले शुभभावरूपी नाँव में बैठो और उसपार जाने के बाद उसे छोड़ना, बीच में छोड़ दोगे तो मँझधार में डूब जाओगे, अर्थात् अशुभ में चले जाओगे।

उक्त कथन शुभभावों के ग्रहण-त्याग की भूमिका को स्पष्ट करता है। यहाँ उन पर घटित होने वाले व्यवहारनय के ग्रहण-त्याग की बात नहीं है, क्योंकि व्यवहार का ग्रहण-त्याग ज्ञान में एक साथ होता है, क्रिया में नहीं।

सम्यग्दर्शन के पहले भी शुभभाव होते हैं तथा उन्हें करने का उपदेश भी दिया जाता है, परन्तु वहाँ सच्चा मोक्षमार्ग नहीं हैं अत: शुभभाव पर मोक्षमार्ग का उपचार घटित नहीं होता।

****